

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182703

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP-731-28-481-10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

Accession No.

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below

कविता में प्रकृति-चित्रण

(सिद्धान्त-समीक्षा एवं विवेचन)

लेखक

श्री रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण', एम० ए०
हिन्दी-विभाग, मेरठ कॉलेज,
मेरठ (उत्तर प्रदेश)

भूमिका-लेखक

श्री विजयेन्द्र स्नातक, एम., ए. शास्त्री
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रकाशक

नैशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक :

**नैशनल पब्लिशिंग हाउस,
नई सड़क, दिल्ली**

प्रथम संस्करण : अक्टूबर १९५४

**मूल्य : चार रुपए
सर्वाधिकार सुरक्षित**

मनमोहन ।

जो इस पुस्तक की प्रेरणा के मूल स्रोत हैं, और लेखक जिनका
शिष्यत्व-लाभ करके गौरवान्वित हुआ है,
उन्हीं गुरुवर म्वर्गीय आचार्य
पं० रामचन्द्र शुक्ल
की परम पवित्र स्मृति में ।

—लेखक

निवेदन

प्रस्तुत गद्य प्रबन्ध का एक मुदीर्घ इतिहास है। आज से लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व, सन् १९३९ में, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बी० ए० के प्रथम वर्ष में अध्ययन करते समय, मैंने आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक निबन्ध पढ़ा था। उस निबन्ध की सामग्री को रुचिपूर्वक ग्रहण करने के उपयुक्त मानसिक भूमिका पहले से ही कुछ तैयार हो रही थी क्योंकि मेरे मन में हिन्दी के महान् प्रकृति-प्रेमी कवि पंत की रचनाओं—'वीणा' और 'गुंजन'—के प्रति स्कूल जीवन में ही एक किशोर-मुलभ मोह अंकुरित हो चुका था। उक्त निबन्ध को पढ़ कर मैं इतना प्रभावित हुआ कि मैंने दो वर्ष बाद एम० ए० में आठवें पत्र के रूप में प्रस्तुत किये जाने वाले प्रबन्ध (thesis) के लिये भी उसी मूल विषय से बहुत कुछ मिलता जुलता 'कविता में प्रकृति-चित्रण' नामक विषय स्वीकृत करवा लिया। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक की प्रेरणा का मूलस्रोत उक्त निबन्ध ही है, ऐसा स्वीकार करते हुए मैं अपने परम श्रद्धेय गुरुवर का पावन स्मरण व पद-वंदन करता हूँ ! इस अवसर पर मैं आचार्य शुक्ल के निधन के पश्चातवर्ती हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष आचार्य पं० केशवप्रसाद जी मिश्र (जिनके पूर्ण सौम्य, सांस्कृतिक व सरस व्यक्तित्व की स्मृतिमात्र ही आज शेष है !) का भी पावन ध्यान करता हूँ जिन्होंने इस विषय पर अध्ययन करने के लिए मुझे प्रोत्साहित किया, मेरा पथ-निर्देश किया और पुस्तक की संतोषजनक समाप्ति पर उसका अवलोकन करके सस्नेह आशीर्वाद भी दिया था। इन गुरुजनों के सारण से आज मैं सात्विक रोमांच का अनुभव कर रहा हूँ।

श्रद्धेय गुरुवर पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र, डॉक्टर जगन्नाथ प्रसाद जी शर्मा तथा पं० पद्मनारायण जी आचार्य का भी मैं परम कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरे लिए सदैव अपनी उदारता का राजद्वार खुला रखा। जीवन के भङ्गावातों में अब भी मैं उनकी ओर उसी विश्वास से जाता हूँ “जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पर आवै।” अस्तु !

तब से वृक्षों में कई बार पात लगे और झड़ गये। प्रबन्ध अप्रकाशित ही पड़ा रहा। हाँ, सन्दूक खोल कर छठे-छमाहे देख अवश्य लेता था कि वह है भी या कहीं खो गया। आज से लगभग ३५ वर्ष पूर्व ‘जनवाणी’ प्रकाशन (कलकत्ता) से उसके छपने की व्यवस्था भी हुई थी। किन्तु उनका मुझाव था कि मैं इसमें रशियन, फ्रेंच व जर्मन आदि प्रसिद्ध यूरोपीय भाषाओं के प्रकृति-काव्य पर भी कुछ प्रकरण जोड़ दूँ। पर उक्त भाषाओं का तनिक भी ज्ञान न होने से तथा अंग्रेजी अनुवादों को टटोलते फिरने का कार्य बहुत श्रम-साध्य समझ कर मैंने इस भ्रमेले में न पड़ अपनी सहज आनन्द-वृत्ति के साथ जीवन-प्रवाह में निर्विघ्न बहते चलने में ही श्रेय समझा। प्रबन्ध को कहीं से भी छूने का अर्थ था कंकड़ पानी में डालना, जो समस्त जल-प्रसार को तरंगित किये बिना नहीं रहेगा।

पर जीवन में चैन कहाँ ! आखिर, दिल्ली-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यापक मेरे स्नेही मित्र श्री विजयेन्द्र स्नातक, एम० ए०, शास्त्री ने फिर मुझे सोते से जगाया। उन्होंने प्रबन्ध को देखा और उनका आग्रह हुआ कि इस क्षेत्र में नवीन चिन्तनों के प्रकाश में मैं विषय को अद्यतन रूप में प्रस्तुत करूँ, किन्तु पिछले वर्षों में इस क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें निकल ही चुकी हैं, ऐसा सोच कर पहले तो किनारा ही काटना चाहा किन्तु न जाने किस स्वर्ण भोर की सुमन्द पवन-लहरी ने मुझे छूआ कि इस कार्य को मैंने उठा लिया। पिछले ५-६ वर्षों में मेरठ कॉलेज में एम० ए० कक्षाओं के अध्यापन-कार्य तथा अपने

विशेष अध्ययन के लिए मैंने जो नवीन सामग्री जुटाई थी, उसमें से कुछ सामग्री का उपयोग करके इस पुस्तक का दो तृतीयांश कलेवर बिल्कुल नये सिरों में लिख डाला। इस ग्रीष्म में स्नातक जी ने जो मुझ में भारी मेहनत कराई है, यह न जाने उन्होंने कौन से पुराने बैर का बदला चुकाया है। जो हो, अब वर्तमान रूप में पुस्तक के प्रकाशित हो पाने का श्रेय भाई स्नातक जी को ही है।

यह बता देना भी भित्तान्त आवश्यक है कि यह पुस्तक विशेषज्ञों के लिए नहीं लिखी गई है। अतः यदि इसमें विद्वानों का कुछ मनोरंजन तथा अन्य साहित्य-प्रेमी पाठकों को कुछ सूचना-लाभ हो सका तो लेखक अपने इस परिश्रम को सर्वथा निष्फल न समझेगा। अंत में मेरा सविनय निवेदन है कि यदि विद्वज्जन व अन्य सहृदय पाठक इस प्रयास की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने की कृपा करेंगे तो मैं हृदय से उनका आभारी हूँगा।

मेरठ कॉलिज, मेरठ

वैशाख पूर्णिमा,

संवत् २०११

रामेश्वरलाल

विषय-सूची

भूमिका— लेखक प्रो० विजयेन्द्र स्नातक एम० ए०

प्रथम प्रकरण

काव्य और प्रकृति का चिरन्तन सम्बन्ध

[पृष्ठ १-१४]

काव्य और प्रकृति; प्रकृति और रहस्य; प्रकृति और सौंदर्य; प्रकृति और आनन्द ।

द्वितीय प्रकरण

काव्य में प्राकृतिक-दृश्य-चित्रण

(सिद्धान्त)

[पृष्ठ १५-६६]

दृश्य-चित्रण पर विद्वानों के विचार; चित्रकला और कविता; चित्र और कविता में अन्तर; दृश्य-चित्रण की सामान्य पद्धति; प्रकृति-वर्णन पर भारतीय आचार्यों की दृष्टि; आचार्य शुक्ल की प्रकृति-दृष्टि; नवीन दृष्टिकोण : प्रकृति-वर्णन में रस; काव्य में प्रकृति के विविध प्रयोग ।

तृतीय प्रकरण

काव्यों में प्रकृति-चित्रण

[पृष्ठ ७०-८१]

(क) संस्कृत-काव्य में प्रकृति-चित्रण : सामान्य परिचय; प्राचीन कवियों का प्रकृति-वर्णन; उनकी प्रेरणा; वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, माघ, बाण, अमरुक आदि कवि ।

(ख) अंग्रेजी-काव्य में प्रकृति-चित्रण : प्राचीन अंग्रेजी-काव्य स्वाभाविक स्वच्छन्दतावाद और प्रकृतिवाद; वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, टेनीसन, आर्नल्ड आदि कवि; विषय-विस्तार ।

चतुर्थ प्रकरण हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण (प्राचीन कविता)

[पृष्ठ ६२-११४]

वीरगाथा काल; भवित-काल (ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा, कृष्णभवित शाखा, व रामभवित शाखा); रीतिकाल ।

पंचम प्रकरण आधुनिक हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण

[पृष्ठ ११५-१८८]

रति के क्षेत्र की व्यापकता; प्रकृति-प्रेम के पुनरावर्तन के कारण; प्रकृति-काव्य का विकास-क्रम; विषय-निरूपण; आलम्बन (रूप-विस्तार, सूक्ष्मदर्शिता व तूलिका-कौशल, गति-विधि, वर्ण-भावना, नाद-व्यंजना, गंध, स्पर्श, स्नेह-भावना, मनःस्थिति); उद्दीपन; रहस्य-भावना; मानवीकरण; पृष्ठभूमि व वातावरण; अलंकार; प्रतीक; तथ्य-प्रतिपादन व उपदेश ।

षष्ठ प्रकरण उपसंहार

[पृष्ठ १८९-१९९]

सौंदर्य : कवि की साधना का माध्यम; प्रकृति-सौंदर्य की विशेषताएँ; प्रकृति का आध्यात्मिक महत्त्व; कवि-कर्म व काव्य का सर्वोच्च आदर्श; बाह्य प्रकृति का दान; अंतः-प्रकृति की विकृति; सरकार का सहयोग; जनता में प्रकृति-प्रेम; जीवन में सौंदर्य की व्याप्ति ।

परिशिष्ट ग्रन्थानुक्रमणिका [पृष्ठ २००]

भूमिका

इस दृश्यमान् अखिल चराचर जगत् को जीव और प्रकृति इन दो भागों में विभक्त किया जाता है। सृष्टा तथा नियामक के रूप में ईश्वर या ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त है। जीव उस विराट् चेतन सत्ता का अंश और दृश्य प्रकृति उसका पार्थिव पसारा है। तात्त्विक दृष्टि से प्रकृति सत् है, जीव सत् और चित् है तथा ईश्वर सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। प्राकृतिक उपादानों द्वारा जहाँ जीवयोनि का भरण-पोषण होता है वहाँ सृष्टि की श्रेष्ठतम रचना 'मानव' को उसके द्वारा अपने भाव-जगत् के निर्माण की अमूल्य सामग्री तथा कल्पना और चिन्ता की विविध दिशाओं का नूतन संकेत भी मिलता है।

यों तो मानव भी अपने सत् रूप में प्रकृति का ही एक रूप है किन्तु वह अपने को प्रकृति से पृथक् करके देखता है। इस भेद-बुद्धि को स्वीकार करने पर भी मानव प्रकृति से सर्वथा अलग या असम्बन्धित नहीं है। प्रकृति मानव की चिर सहचरी है जो उसके जीवन की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती हुई अन्तरंग अनुभूतियों को भी अपने रूप-सौंदर्य से प्रभावित और चमत्कृत करने की अद्भुत क्षमता रखती है। इसी कारण सृष्टि के आदि से ही मानव का प्रकृति के साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ वह स्पन्दनशील एवं संवेदनशील सत्ता के रूप में ही हुआ। प्रकृति अपने असंख्य रूपों में हमारे सम्मुख आती है और हम नाना रूपात्मक, गतिमान, परिवर्तनशील, विविध ध्वनि-नाद युक्त सृष्टि को देखकर विस्मय-विमुग्ध होने के साथ एक अव्यक्त जिज्ञासा से प्रश्नशील हो उठते हैं। प्रकृति के प्रति पूजा-आराधना का भाव भी कदाचित् इसी कारण मानव के मन में उदय हुआ कि वह उसके कोमल और कर्कश, कमनीय और विकराल, शान्त और प्रचण्ड रूपों से उत्लसित एवं आतंकित हुए बिना न रह सका। उसने अपने भाव-

लोक में प्रकृति की व्यक्त सत्ता का जो विराट् रूप अंकित किया वही काव्य, साहित्य, संगीत, चित्र आदि विभिन्न ललित कलाओं द्वारा प्रस्फुटित हो कर हमारे रागात्मक जगत का अभिन्न अंग बन गया। फलतः विश्व साहित्य में प्रकृति-वर्णन की अनिवार्यता स्वीकार की गई और मानव ने मौंदर्यवृत्ति के तोष के लिए ही नहीं वरन् अपनी आभ्यन्तर जिज्ञासा, वैचित्र्यजन्य कुतूहल, मोहक-विस्मय तथा आतंकमय आश्चर्य के शमन के लिए भी प्रकृति के विविध रूपों को काव्य में ग्रहण किया।

वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन इस बात का साक्षी है कि उस काल के ऋषि-मुनियों ने विराट् चेतन-सत्ता के स्तवन-प्रसंग में उपासविता, वरुण, चन्द्र, मरुत आदि प्रकृति-तत्त्वों का प्रचुर परिमाण में वर्णन किया है। इनके निरतिशय सौन्दर्य एवं देदीप्यमान तेज का वर्णन जिन प्रकृति-उद्गीथों में किया गया है उसे पढ़कर पाठक का मन केवल अभिव्यंजना की प्रौढ़ शैली एवं कल्पना की समृद्धि पर ही मुग्ध नहीं होता अपितु प्रकृति की व्यापक सत्ता तथा दुर्द्धर्प क्षमता पर भी रीझ उठता है। उपासूक्त, वरुणसूक्त, मरुतसूक्त, वर्षासूक्त आदि में यद्यपि देवता-परक दृष्टि से इनका स्तवन-वर्णन हुआ है तथापि इनके स्थूल दृश्य-रूप का सर्वथा तिरस्कार नहीं है। देवता-परक भावना से हटकर जब हम इनके मांसल प्रकृति रूप का अवगाहन करते हैं तब ये सब पदार्थ अपने भौतिक स्वरूप में हमारे हृदयाकाश में भाममान हो उठते हैं। वेद संहिताओं के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय के अन्य अंग ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक में भी प्रकृति के प्रतीक, उपमान, रूपक आदि की भरमार है। रहस्य भावना के अंकन में प्रकृति-प्रतीकों की जैसी सुन्दर योजना उपनिषदों में हुई वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। प्राकृतिक वैभव का चित्रण भी इन ग्रन्थों में विशेष रूप से हुआ है।

भारतीय दर्शन अपने सूक्ष्म विवेचन के लिए प्रसिद्ध हैं। स्थूल के प्रति उनका अपेक्षाकृत न्यून अग्रह है। फिर भी कपिल और कणाद ऋषि ने प्रकृति की भीमाँसा वड़ी विशद एवं सन्तुलित शैली से अपने दर्शन ग्रन्थों में प्रस्तुत की है। गुंढ्य दर्शन में पुरुष के आकर्षण सूत्र में आवद्ध प्रकृति को सृष्टि रचना करने में सबसे अधिक प्रयोजनीय कहा गया है और भौतिक जगत् में उसकी असीम शक्ति वर्णित की गई है। वैशेषिक दर्शन में, मूल प्रकृति रूप पंचभूतों का विश्लेषण तात्त्विक दृष्टि से हुआ है। शेष दर्शनों से कहीं प्रकृति को माया, कहीं प्रपञ्च-प्रसारिका, कहीं मायाविनी नटी आदि नाना रूपों में स्मरण किया है। दर्शनों में प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही रूप आए हैं जो सृष्टि रचना के रहस्योद्घाटन में तथा संसार के सरण-शील बने रहने में अपनी उपादेयता रखते हैं। प्रकृति की सर्जन-शीलता का सम्मान मानव ने केवल उसके जड़-उपादान के रूप में नहीं किया, वह तो आदि काल से उसे क्रियाशील मानकर उसके नाना रूपों पर प्रसन्न, मुग्ध, तुष्ट और लुब्ध होकर उसकी पूजा-आराधना, स्तवन-कीर्तन, अंकन-चित्रण आदि करता रहा है। यथार्थ में जीवन के समानान्तर ही प्रकृति का उपयोग किया गया है। अतः प्रकृति और मानव चिर सहचर बन गए हैं।]

संस्कृत-महाकाव्यों में प्रकृति का ग्रहण अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप में हुआ। वाल्मीकीय रामायण और महाभारत में दृश्य-प्रकृति चित्रों का जैसा संश्लिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है वैसा कालिदास और भवभूति के सिवा किसी अन्य कवि के काव्य में दृष्टिगत नहीं होता।^१ प्रकृति को विभाव की कोटि में आलम्बन मानकर वर्णन करने की शास्त्रीय मर्यादा परवर्ती महाकाव्य और खंडकाव्यों में नहीं रही। इसी कारण प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णनों में उतनी तल्लीनता और सटीकता

नहीं पाई जाती । उद्दीपन के फेर में पड़कर कवियों की भावना में परिवर्तन आ गया और वन, उपवन, गिरि, निर्भर, सर, मरिता, वर्षा, शरद, कमल, मालती, चन्द्र, चांदनी, सभी पदार्थों में उन्होंने अपनी भावना का आरोप करना प्रारम्भ कर दिया । कहना न होगा कि यह परिपाटी शास्त्रीय रूढ़िवाद की दृष्टि से समीचीन भले ही प्रतीत हो किन्तु प्रकृति के वस्तुगत रूप के प्रति घोर उदासीनता की द्योतक है । रामायण से संश्लिष्ट प्रकृतिचित्रण के ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें प्रकृति को शुद्ध वस्तु रूप में स्वीकार करके कवि ने उसका आलम्बन-परक वर्णन किया है । मन्दाकिनी का वर्णन करते हुए राम सीता से कहते हैं—

“इस विचित्र पुलिनवाली रमणीय मन्दाकिनी को देखो जिसके तट पर हंस और सारस क्रीड़ा कर रहे हैं और जो पुष्पों से युक्त वृक्षों द्वारा शोभायुक्त लग रही है । मार्ग के वेग से प्रताड़ित शिखरों से नृत्य-सा करता हुआ पर्वत (अपने ऊपर स्थित) अपने वृक्षों से नदी पर चारों ओर से पुष्प और पत्र विकीर्ण कर रहा है । वायु के झोंके से नदी के किनारे फैले हुए पुष्पों के ढेर को देखो और साथ ही उन पुष्पों को भी देखो जो उड़कर पानी में जा गिरे हैं—वे पानी में कैसे तैर रहे हैं ।”^१

उपर्युक्त वर्णन में मन्दाकिनी के पुलिन प्रदेश, पक्षियों के कल्लोल, क्रीड़ा, पुष्पित वृक्षों का आमोद-वितरण, पर्वत की शोभा, पुष्प और पत्रों

१ विचित्र पुलिनां रम्यां हंस सारस सेविताम् ।
 कुसुमै स्रप सम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥
 मार्गतोद्धूत शिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः ।
 पादपैः पुष्प पत्राणि सृजद्भिः रमितोनदीम् ॥
 निर्धूतान्वायुना पश्य विततान्पुष्प संचयान् ।
 यो प्लूयमानान परान्पश्य त्वं तनुमध्यमे ॥

—बाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड सं० ६५ श्लोक ३-८

का भड़ कर जल में विकीर्ण होना इतने स्वाभाविक रूप में अंकित किया गया है कि पाठक के अन्तर्नेत्रों के सम्मुख नदी का व्यौरे वार समग्र चित्र उपस्थित हो जाता है । इसमें नायक-नायिका की किसी व्यक्त-अव्यक्त भावना का उद्दीपन कवि को अभीष्ट नहीं है । ऐसे और इससे भी कहीं सुन्दर वर्णन रामायण और महाभारत में भरे पड़े हैं । ये वर्णन इस बात के सबल प्रमाण हैं कि भारतीय काव्य परम्परा में प्रकृति-वर्णन को स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हुआ था और हमारे कविगण प्रकृति की अवतारणा मनोविकार के उद्दीपन की पीठिका में ही न करके उसके शुद्ध-स्वतन्त्र रूप में भी करते थे । इस तथ्य की पुष्टि में सद्व्याधिक उदाहरण संस्कृत काव्यों से दिए जा सकते हैं किन्तु मौलिक सिद्धांत की स्थापना के बाद प्रमाणों के घटाटोप की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती ।

संस्कृत के गद्य-साहित्य में भी प्रकृति-वर्णन उसी शैली से हुआ है जिस शैली से काव्य-साहित्य में । काव्य, नाटक और गद्य रचना शैली में भिन्नता होते हुए भी प्रकृति-वर्णन के मूलभूत सिद्धान्त में समान हैं । वाणभट्ट, दण्डी, श्रीहर्ष आदि सभी प्रमुख गद्यकारों ने प्रकृति-वर्णन में आलंकारिक शैली की छटा दिखाते हुए वस्तु-रूप को ही प्रधानता दी है । वाणभट्ट जैसा प्रतिभाशाली गद्य प्रणेता अपनी रचनाओं में जहाँ एक ओर सफल चित्रकार प्रतीत होता है वहाँ दूसरी ओर उसकी सूक्ष्म दृष्टि का पता उन वर्णनों से लगता है जिसमें उसने जीर्ण शाल्मली, शून्याटवी, ऊजड़ ग्राम, पर्वत, वन, घाटी, चैत्य, आदि का अंकन साँगोपांग एवं सटीक रूप में किया है ।^१ पदलालित्य, आलंकारिता, परिमार्जन और प्रौढ़ता आदि गुण तो दण्डी और श्रीहर्ष में भी हैं किन्तु सूक्ष्म-दर्शन की दृष्टि से वाणभट्ट उनसे आगे हैं । प्रकृति के सम्बन्ध में भारतीय काव्य-समीक्षा और काव्य-परिपाटी का भेद

प्रदर्शित करने के लिए हमने इस प्रसंग को यहाँ संकेत रूप में उपस्थित किया है। शास्त्रकार भले ही प्रकृति को आलम्बन न मानें, भले ही उनकी दृष्टि में प्रकृतिजन्य रस शुद्ध काव्य-रस की कोटि में न आए, किन्तु काव्य-रसिक, सहृदय कवियों के लिए तो प्रकृति रस भी शुद्ध रस बनकर ही आया है और आता रहेगा।

पालि, प्राकृत और अभ्रंश साहित्य में भी प्रकृति को ठीक वही स्थान मिला है जो वैदिक और संस्कृत साहित्य में है। पालि के जानक ग्रन्थों में वस्तु-परक वर्णनों का अभाव है क्योंकि उनमें लघु कथानकों का ऐसा जाल बिछा है कि प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों की अवतारणा के लिए अवकाश ही नहीं रहता। हाँ, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में शुद्ध प्रकृति-वर्णन के प्रसंगों की न्यूनता नहीं है। रूपक, उपमान और प्रतीक शैलियों द्वारा प्रकृति वर्णन की शैली इन दोनों भाषाओं में संस्कृत के समान ही मिलती है।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत प्रकृति का जिस रूप में ग्रहण हुआ वह न तो मौलिक है और न उद्भावना की दृष्टि से ही नवीन कहा जा सकता है। आदिकाल के साहित्य में प्रकृति को उपर्युक्त स्थान नहीं मिला। भक्तियुग में सूर और तुलसी ने प्रकृति का उपयोग आलम्बन और उद्दीपन दोनों दृष्टियों से किया। कबीर और जायसी ने रहस्य-भावना के वर्णन में प्रकृति के प्रतीक ग्रहण किये और अप्रस्तुत विधान की योजना करके प्रकृति को पर्याप्त स्थान दिया।^१ रीति-कालीन कवियों ने शास्त्रमर्यादा तथा नायिकाभेद के भँवर-जाल में फँसकर प्रकृति की क्षमता को सीमित बना दिया और प्रकृति के वस्तु-सौन्दर्य से आँख हटाकर उसे अपने मनोविकारों की पृष्ठभूमि में ला खड़ा किया। फलतः प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता विलीन हो गई और उसका अनवद्य सौन्दर्य उनकी दृष्टि में नायक या नायिका के मन को

रिझाने या रिसाने वाला बन गया। उद्दीपन की यह प्रणाली यद्यपि नूतन न थी तथापि अपने प्रयोग की क्षुद्र सीमापरिधि में बंधकर वह कवि और काव्य दोनों को कुण्ठित करने वाली सिद्ध हुई। केशवदास, चिन्तामणि, देव, पद्माकर और भारतेन्दु तक यही प्रणाली चलती रही। हर्ष का विषय है कि द्विवेदी युग में प्रकृति ने फिर से उन्मुक्त वातावरण में साँस ली और अपने शास्त्रीय-बन्धन से छूटकर वह कवि के मानस में हर्षोल्लास की तरंग उत्पन्न करने की क्षमता जुटा सकी। छायावादी युग में आकर तो प्रकृति-अप्यग को अपने पंखों में पूरी उड़ान भरने को नील-गगन दिखाई दिया और पन्त, प्रसाद, निराला के काव्य-कानन में प्रकृति पगी को स्वच्छन्द विहार करने का अवसर मिला। शास्त्र की शृंखला से छूटने पर प्रकृति में रूपातिशय के साथ वस्तु और भाव दोनों का सम्मिश्रण इन कवियों द्वारा हुआ और प्रकृति को सापेक्ष दृष्टि से न देखकर स्वतन्त्र और निरपेक्ष दृष्टि से देखना ही श्रेयस्कर समझा जाने लगा। प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण का यह स्वस्थ परिवर्तन हिन्दी कविता में व्यापकता लाने का कारण बना।^१

विदेशी भाषाओं के साहित्य में भी प्रकृति को समुचित स्थान मिला है। अंग्रेजी भाषा में तो प्रकृति के दृश्य रूप को चेतन सत्ता के रूप में ग्रहण करके मानवीकरण द्वारा अनेक कवियों ने वर्णित किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में विद्वान् लेखक ने प्राचीन और अर्वाचीन अंग्रेजी साहित्य के सुप्रसिद्ध कवियों की सूक्तियों को उदाहरण के तौर पर यह दिखाया है कि मिल्टन से लेकर मैथ्यू आर्नल्ड तक सभी कवि प्रकृति की वर्ण-वस्तु को प्रधानता देकर उसमें नाना रूप, ध्वनि, नाद और मौन्दर्य का दर्शन करने रहे। प्रभंजन को सम्बोधन करके लिखी हुई कवि शैली की 'ओड टु दी वेस्ट-विंड' कविता की दुर्निवार शक्ति पर किसे आश्चर्य नहीं होता। वर्डस्वर्थ के प्रकृति प्रेम पर कौन सहृदय मुग्ध नहीं होता। कीट्स की कमनीय

कल्पना पर कौन रसिक लुब्ध नहीं होता । टेनीसन की प्रकृति क्रीड़ा-वर्णन शैली पर कौन अनुरक्त नहीं होता । निश्चय ही अंग्रेज कवि प्रकृति को संवेदनशील और स्पन्दनशील मानकर ही उसका वर्णन करते हैं ।^१ प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने जिन कवियों की उक्तियाँ उदाहृत की हैं उनके अतिरिक्त और भी प्रायः सभी कवि प्रकृति को काव्य का अनिवार्य वर्ण्य मानकर चले हैं । भारतीय काव्य शास्त्र की परिभाषा की तरह उन्होंने प्रकृति को उद्दीपन की परिधि में आवद्ध नहीं किया है । अतः उनका वर्णन संश्लिष्ट होने के साथ सचेतन और प्राणवान हुआ है ।

संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के अतिरिक्त रूसी, फ्रांसीसी, लैटिन फारसी, अरबी, चीनी, जापानी आदि भाषाओं में भी प्रकृति-काव्य लिखा गया है जिसका वर्णन इस प्रबन्ध में लेखक ने स्थानाभाव के कारण नहीं किया । लेखक का उद्देश्य काव्य और प्रकृति का संबंध प्रदर्शित करना है—विभिन्न भाषाओं के प्रकृति-चित्रण का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करना नहीं । अतः प्रबन्ध के कलेवर को सीमित रखने के लिए विविध भाषाओं के मोह को छोड़ना पड़ा ।

कविता और प्रकृति के अभिन्न सम्बन्ध की स्थापना करने के लिए जिन अधाभूत मौलिक सिद्धांतों का प्रतिपादन लेखक ने किया है और जिन मूलभूत प्रश्नों को उठाया है, उनपर विचार करना भी हम आवश्यक समझते हैं । इस मैद्वान्तिक विवेचन को हम तीन-चार प्रश्नों में बांटकर उनकी मीमांसा करेंगे । पहला प्रश्न है प्रकृति को काव्य में किस रूप में ग्रहण किया जाए—आलम्बन या उद्दीपन विभाव में से किसके अन्तर्गत रखा जाए ? दूसरा प्रश्न—प्राकृतिक सौन्दर्य का अवस्थान कहाँ है—दृश्य में या दर्शक के मन में या उसकी भावना में ?

इस प्रश्न का अवान्तर प्रश्न है कि — दृश्यमान् वस्तु तत्त्वतः सुन्दर है या वह कलात्मक कल्पना का फल है ? तीसरा प्रश्न है कि प्रकृति प्रेम को रस की दृष्टि से शब्द रसानुभूति माना जाए या केवल भाव या रसाभास समझा जाए ? चौथा प्रश्न — काव्य और प्रकृति के मिलन का धरातल क्या है ? क्या मानवीकरण और प्रतीक विधान की अलंकारिक पद्धति स्वीकार करके हम प्रकृति को संवेदनशील बना लेते हैं अथवा उसमें स्वयं प्रबुद्ध चेतना का वही रूप है जो जीव-योनि में होता है ? इन प्रश्नों के सिवा कुछ छोटे-मोटे और प्रश्न भी उठ सकते हैं जो साधारणीकरण प्रक्रिया को लेकर उत्पन्न होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन प्रश्नों पर गंभीर आलोचक की शैली से विचार किया है और उनकी युक्ति, तर्क, प्रमाण पुरस्सर स्थापित मान्यताओं को श्री खण्डेलवाल ने अपने प्रबन्ध के 'प्रकृति वर्णन में रस' शीर्षक अध्याय में संकलित कर दिया है।^१ उनकी मान्यताओं को इस प्रबन्ध के लेखक ने स्वीकार करके अपने मत की पुष्टि में प्रमाण माना है।

उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करते समय प्रकृति के विविध रूप हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। प्रकृति-सौन्दर्य के असंख्य स्तर हैं। अनेक रूपों में प्रकृति हमारे नेत्रों के सामने बिखरी पड़ी है। उसके कोमल-कमनीय रूप ही नहीं, भयानक और वीभत्स रूप भी हमें देखने को मिलते हैं। अतः उसकी कोई एक निश्चित कल्पना हम नहीं कर सकते। प्रकृति और मानव को मिलाने वाले और दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने वाले कार्यों की भी इयत्ता नहीं है। किन्तु काव्य और प्रकृति का सम्बन्ध स्थापित करने वाला हेतु साष्ट है और वह है सौन्दर्यानुभूति। सौन्दर्य के धरातल पर काव्य और प्रकृति का कवि की अनुभूति, कल्पना और भावना के द्वारा संगम होता है। प्रकृति के विषद विस्तार से जो सौन्दर्य कवि अपनी कल्पना में ग्रहण करता है

वही उसके काव्य में अभिव्यक्ति पाता है। सौन्दर्य को इसलिए वस्तु-परक मानने की अपेक्षा कुछ लोग मनस्-परक अधिक मानते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् कोशे ने अपनी पुस्तक 'एस्थिटिक्' में प्रतिपादित किया है कि प्रकृति की सौन्दर्य-भावना मनस्-परक है। प्रकृति स्वयं तो मूक और जड़ है; कलाकार जब तक उसे वाणी नहीं देता उसका सौन्दर्य मुखरित नहीं हो पाता। प्रकृति-सौन्दर्य को हृदयंगम करने के लिए केवल बाह्य दर्शन ही पर्याप्त नहीं, उसे भली भाँति समझने के लिए कलात्मक मानसिक स्तर का होना भी अनिवार्य है। वस्तु-परक दृष्टि से विचार करने पर वस्तु-दृश्य की अनिवार्यता भी सामने आती है और लगता है कि स्थूल रूप के बिना भाव की स्थिति कहाँ होगी। अतः वस्तु और भाव दोनों से सम्बन्धित और समन्वित रूप को ही सौन्दर्य की व्याख्या में रखना संगत होगा।

प्रकृति के विराट् सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कवि काव्य-रचना करता है, उसके सौन्दर्य को अपनी कल्पना और अनुभूति का विषय बनाता है। यह अनुभूति ही अभिव्यक्ति का विषय बनकर कविता का रूप धारण करती है। अतः ऐसे काव्य में प्रकृति को आलम्बन माना जायगा और कवि होगा उन भावों का आश्रय। आलम्बन रूप इस प्रकृति को हम वस्तु-आलम्बन और भाव-आलम्बन दो रूपों में देख सकते हैं।^१ जहाँ किसी घटना, स्थल, दृश्य आदि को स्पष्ट करने और कथानक आदि की पृष्ठभूमि तैयार करने में इसका उपयोग होता है वहाँ वस्तु-आलम्बन के रूप में इसका ग्रहण होगा। इन वर्णनों में कवि स्वतन्त्र शैली से वस्तु-रूपों को इतना प्रमुख स्थान देता है कि उनका रूप हमारे अन्तःकरण में रसानुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होता है। भाव-आलम्बन में मानवीय भावों के समानान्तर प्रकृति के चित्रों को उपस्थित करना ही कवि को अभीष्ट होता है। प्रकृति के पुष्प, पत्र

विहंगों का कलरव, निर्भर का कल-कल नाद कभी नायक-नायिका के स्वागत करने के लिए भाव की पृष्ठभूमि में व्यंजित होते हैं, कभी किसी अन्य भाव को व्यंजित करने के लिए। आलम्बन की यह स्थिति तभी स्वीकार की जायगी जब काव्य में दूसरा कोई आलम्बन न होगा या किसी अन्य परोक्ष आलम्बन का इस वर्णन में उद्दीपन रूपा का सम्बन्ध न होगा। यदि किसी अन्य आलम्बन से इस वर्णन का सम्बन्ध हुआ तो वहाँ यह आरोपित उद्दीपन ही समझा जायगा।

साधारणतः भारतीय प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति के इस आलम्बन रूप को स्वीकार नहीं किया और रस-सिद्धान्त के विवेचन में कहा कि प्रकृति के अचेतन होने के कारण, तज्जन्य भाव रस रूप में परिणत नहीं हो सकता। प्रकृति हमारे भावों के साथ आदान-प्रदान नहीं करती, उसके प्रति व्यक्त प्रेम भी एकांगी होता है। अतः वह भाव ही होगा, रस नहीं। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है “नरिन्द्रियेषु तिर्यगदिषु चारोपाद्रसभावाभावाः।” तत्र-वृक्षारिष्वनौचित्येनाराग्यमाणी रसभावौ रसभावभासतां भजतः।” काव्यानुशासनवृत्तिः (वाग्भट्ट)।^१ इस शास्त्रीय सिद्धान्त का खण्डन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने लेख ‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’ में किया और प्रकृति-वर्णन में रस की स्थापना की है। वस्तुतः विवेचन में इस विषय की तात्त्विक समीक्षा है और लेखक की स्थापनाएँ, पुष्ट प्रमाण और बौद्धिक युक्तियों पर निर्भर हैं।^२ “प्रकृति-वर्णन में रस” अध्याय में लेखक ने प्रकृति-रस की स्थापना के लिए भक्ति रस, वात्सल्य रस और शृंगार रस विषयक विभिन्न मान्यताओं को स्वपक्ष में प्रस्तुत किया है। भानुभट्ट की ‘मायारस’ कल्पना के आगे प्रकृति-रस की स्वीकृति तो बड़ी सहज-स्वाभाविक है। वस्तुतः प्रकृति-निष्ठ सौन्दर्य का भाव इस

१ देखिए—‘कविता में प्रकृति-चित्रण’ पृष्ठ ३२-३४

२ देखिए—‘कविता में प्रकृति-चित्रण’ पृष्ठ ४५-४६

चरम कोटि तक मानव-मन को उल्लसित और उद्बुद्ध कर देता है कि हम उसे एकदम भूल नहीं सकते । भवितरस की स्थापना करने वाले आचार्यों ने शान्त भाव को जिस आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित किया उतनी ही सुदृढ़ भूमि पर सौन्दर्य-भाव को भी स्थापित किया जा सकता है । सौन्दर्यानुभूति और उसकी अभिव्यंजना दोनों ही काव्य के जीवि कहे जाते हैं । इस विषय में पूर्व और पश्चिम दोनों देशों के काव्य शास्त्रियों का समान अभिमत है । “यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाए तो ये (सौन्दर्य और शान्त भाव) रति या शम या निर्वेद के अन्तर्गत भी नहीं आ सकते । परन्तु इस ओर संस्कृत आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है । परिणाम स्वरूप इन दोनों भावों के आलम्बन रूप में आने वाली प्रकृति साहित्य में केवल उद्दीपन रूप में स्वीकृत रही । मानव के मन में सौन्दर्य की भावना सामंजस्यों का फल है और यह भाव रति स्थायी भाव का सहायक अवश्य है । परन्तु रति में अलग उसकी सत्ता न स्वीकार करना अतिव्याप्ति दोष है । उसी प्रकार शान्त केवल निर्वेद जन्य संसार से उपेक्षा का भाव नहीं है, वरन् भावों की एक निरपेक्ष स्थिति भी है । सौन्दर्य भाव और शान्त भाव मनःस्थिति की वह निरपेक्ष स्थिति है जो स्वयं में पूर्ण आनन्द है ।”^१ यदि इस तरह इन्हें निरपेक्ष मान कर आनन्द की पूर्ण स्थिति में स्थिर करके देखा जाए तो इनको रसकोटि में रखना असंगत न होगा । प्राचीनों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया यह आश्चर्य का ही विषय है । हिन्दी काव्य-शास्त्र में तो प्रायः परम्परा-पालन मात्र हुआ है । अतः नूतन दृष्टि उन्मेष का अवसर ही कहाँ ! फिर भी आश्चर्य की बात है कि आचार्य केशवदास ने प्रकृति को आलम्बन स्थानों में परिगणित करने का साहस किया है । नायिका के साथ पृष्ठ भूमि रूप समस्त पदार्थों को केशव ने आलम्बन के अन्तर्गत स्वीकार करके प्रकृति की सीमा

१. देखिये—‘प्रकृति और काव्य’ (हिन्दी) डा० रघुवंश पृष्ठ १३७.

मर्यादा को व्यापक बनाया है ।^१

प्रकृति के सचेतन और सम्वेदनशील होने की बात हम पहले कह चुके हैं । आधुनिक विज्ञान के आधार पर वनस्पति जगत् की चेतन सत्ता-स्वीकार हो चुकी है । श्री जगदीशचन्द्र बसु के आविष्कार की मान्यता को हम भले ही काव्य-साहित्य से पृथक् रखें किन्तु प्रकृति को जड़ और अचेतन कह कर उसे आलम्बन के सर्वथा आयोग्य नहीं ठहरा सकते । प्रकृति के गतिशील और प्रवाहित रूपों को कवि यदि अपनी चेतना के आधार पर सजीव और सप्रण करके देखता है तो वह काव्य-जैली से कोई अपराध नहीं करता । प्रकृति को उद्दीपन के अन्तर्गत रखते समय भी उसके ऊपर कवि अपनी मनसा का आरोप करता ही है । मानवीकरण करते समय तो प्रकृति चेतन सत्ता के रूप में ही व्यक्त होती है । “प्रकृति के मानवीकरण की भावना में पशु-पक्षी जगत् तो मानवीय सम्बन्धों में व्यवहार करते प्रकट ही होते हैं, वनस्पति तथा जड़ जगत् भी व्यक्ति विशेष के समान उपस्थित होता है । कवि की भावना में वृक्ष पुरुष के रूप में और लता स्त्री के रूप में एक दूसरे को आलिंगन करते हुए जान पड़ते हैं । सरिता प्रियतमा के रूप में नीरनिधि से मिलने को आकुल दौड़ रही है । पुष्प उत्सुक नेत्रों से किसी की प्रतीक्षा करते हैं । इस प्रकार मानव के व्यक्तिगत जीवन और सम्बन्धों के साथ प्रकृति में मानवीय आकार के आरोप की भावना भी प्रचलित है । साहचर्य के आधार पर व्यापक प्रतिविम्ब के रूप में प्रकृति का मौन्दर्य-रूप तो आलम्बन है परन्तु आकार के आरोप के साथ शृंगारिक भावना अधिक प्रबल होती गई है और इस सीमा पर यह प्रकृति का मानवीकरण रूपा शृंगार का उद्दीपन विभाव समझा जा सकता है ।”^२ प्रकृति के उद्दीपन-परक वर्णनों में कवि की भावना का आरोप तो प्रायः होता

१—देखिये—केशवदामकृत ‘रसिकप्रिया’ आलम्बन स्थान वर्णन.

२—देखिए—‘प्रकृति और काव्य’ भाग १ डा० रघुवंश पृष्ठ ११३

ही है कहीं-कहीं प्रकृति-दृश्य रूपों में भी इतना सामर्थ्य और बल दृष्टिगत होता है कि वे चेतन सत्ता के समकक्ष प्रतीत होते हैं। इस आरोपित चेतना को सहज चेतना न मानने पर भी इसकी उपेक्षा संभव नहीं है क्योंकि इसमें आनन्दानुभूति, आसुनुभूति और तल्लीनता की कोई कोर-कसर नहीं है।

अलंकारवादिश्री ने प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति-वर्णन पर विचार नहीं किया किन्तु अलंकार योजना में अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत प्रकृति की उपादेयता स्वीकार की गई है। उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों में सादृश्य विधान के लिए जिन प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग हुआ है वह प्रकारान्तर से काव्य में प्रकृति की प्रयोजनीयता की स्वीकृति ही है। विद्यापति, जायसी, तुलसी आदि सभी ने अप्रस्तुत-विधान में उद्यान, चन्द्र, चाँदनी, पर्वत, सर-सरिता, सागर आदि का प्रचुर प्रयोग किया है। अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त आदि अलंकारों में प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को कवियों ने चुना है।^१ कवीर की अन्योक्तियों में उद्यान के विकसित फूलों की क्षणभंगुरता प्रसिद्ध ही है। अद्वैतभावना की सिद्धि के लिए 'काहे रे नलिनी तू कुम्हलानी तेरहि नाल सरोवर पानी' आदि उक्तियाँ प्रकृति उपमान की अप्रस्तुत योजना पर ही निर्भर हैं। प्रतीक-विधान के लिए भी प्रकृति के दृश्य पदार्थों का चयन अनादिकाल से कवि करता आ रहा है। प्राचीन और नवीन कविता के प्रतीक-विधान में मौलिक अन्तर नहीं है, हाँ, समयानुसार प्रतीक अवश्य परिवर्तित होते रहे हैं। उपा, सन्ध्या, चन्द्र, चाँदनी, आकाश, पर्वत, सागर, पवन सभी प्रतीक विभिन्न मनोदशा और स्थिति के द्योतक रहे हैं। छायावादी कविता की समृद्धि में तो इन प्रतीकों का विशेष योग रहा है। प्रस्तुत निबंध में लेखक ने आधुनिक हिन्दी कविता में प्रकृति का चित्रण करते हुए

इन विषयों पर विस्तारपूर्वक सप्रमाण लिखा है।^१ प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में चिद्वान् लेखक ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से उन विषयों का उल्लेख किया है जो प्रकृति के भीतर रहकर भी चेतन सत्ता की तरह कविता में व्यक्त होते हैं। नादव्यंजना, वर्णभावना, गंध, स्पर्श, भावव्यंजना आदि लघु जीर्णकों में इन घाटीकियों को स्पष्ट करते हुए प्रकृति की व्यापकता का विवेचनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

प्राकृतिक तत्वों के माध्यम से सन्त तथा भक्त कवियों ने अपनी रहस्य-माधना एवं भक्ति-भावना का वाह्य ढाँचा खड़ा किया है। ब्रह्म का स्वरूप, आत्मा की स्थिति, माया का प्रपंच और भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता आदि प्रदर्शित करने के लिए सन्त तथा भक्त कवियों ने प्रायः प्रकृति-तत्वों के रूपक ग्रहण किये हैं। कबीर, दादू, मलूकदास, सूर, तुलसी, हितहरिवंश, ध्रुवदास, हरिदास स्वामी, आदि कवियों की रचनाओं से इसकी पुष्टि में पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। भक्त कवियों ने भगवान् के रूप-सौन्दर्य चित्रण में प्रकृति के उपमानों का इतना अधिक प्रयोग किया है कि उसे देखकर लगता है कि भारतीय साधना में प्रकृति का सर्वाधिक उपयोग है जबकि साथ ही साथ प्रकृति को माया और प्रपंच कहकर दूर रखने का उपदेश भी है। सौन्दर्य-वर्णन की इस परम्परा में रीति कालीन कवि भी उसी तरह आते हैं। उनके काव्य में भी प्रकृति का वही स्वरूप और स्थान है जो भक्तिकालीन कवियों के काव्य में था। देव, बिहारी, मतिराम और पद्माकर की कविता में प्रकृति के विविध रूपों द्वारा नायक-नायिका के मनोभावों को उद्दीप्त किया गया है तो सेनापति और घनानन्द के काव्य में स्वतंत्र रूप में भी प्रकृति की छटा वर्णित हुई है। संक्षेप में, प्रकृति की विराट् व्यापक सत्ता का उपयोग कविता के क्षेत्र में प्रारम्भ से होता रहा है। आधुनिक

युग में तो प्रकृति पर्यवेक्षण से उद्भूत भाव-भावनाओं का जगत् और अधिक व्यापक हो गया है । संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रों के साथ मानव की मनसा का आरोप, मानवीकरण की प्रकृति, नूतन प्रतीक-योजना और ध्वनि-नाद-दृश्य विधान आदि का इतना प्रचुर प्रयोग होने लगा है कि प्रकृति के बिना काव्य की कल्पना ही सम्भव नहीं । प्रबंध काव्यों के अतिरिक्त मुक्तक गीतों में भी प्रकृति के स्वतन्त्र रूप का वर्णन अत्यधिक मात्रा में होता है ।

हर्ष और संतोष का विषय है कि प्रस्तुत प्रबंध में विद्वन् लेखक ने प्रकृति सम्बन्धी सैद्धान्तिक मीमांसा के साथ उसका वास्तविक प्रयोग पक्ष भी प्रस्तुत किया है । हिन्दी में अब तक इस विषय पर तीन-चार ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं । किसी प्रकार की तुलना न करते हुए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि स्पष्टता, सुबोधता, प्रांजलता और संक्षिप्तता की दृष्टि से यह प्रबंध अपना विशिष्ट स्थान रखता है । जो कुछ कहा गया है, युक्ति, प्रमाण, और तर्क की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित है । प्रौढ़ और गंभीर विचारों को उपस्थित करने में सरल और सुबोध भाषा का प्रयोग है । अभिव्यंजना की दृष्टि से प्रबंध में कहीं भी शिथिलता और क्लिष्टता नहीं है । प्रबंध का कलेवर सीमित होने के कारण पुष्कल मात्रा में प्रमाण और उदाहरण नहीं दिये गये किन्तु आवश्यक उदाहरणों का अभाव नहीं है ।

यह प्रबन्ध आज से लगभग दस वर्ष पूर्व लिखा गया था । काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय की एम० ए० की परीक्षा में लेखक को इस प्रबंध में सर्वोच्च अंक प्राप्त हुए थे । उस समय तक हिन्दी में इस विषय पर कोई ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था, दुर्भाग्य से लेखक के पास यह लम्बे असें तक अप्रकाशित पड़ा रहा । प्रसंगवश लेखक महोदय ने मुझे इसे पढ़ने का अवसर दिया और मैंने इसकी उपादेयता समझकर लेखक महोदय से इसे प्रकाशित करने का आग्रह किया । हाँ, पुस्तक को

अद्यतन रूप में लाने के लिए मेरे कुछ सुझाव थे जो मैंने निस्संकोच लेखक के समक्ष रख दिये । मुझे प्रसन्नता है कि विद्वान् लेखक ने उन्हें स्वीकार कर अपनी शालीनता का परिचय दिया और पुस्तक को अद्यतन बनाने के लिए उन सुझावों के आधार पर यथास्थान परिवर्तन और परिवर्द्धन कर दिया । जिस रूप में अब पुस्तक प्रकाशित हो रही है वह पुराने प्रबन्ध का एकदम संशोधित एवं परिवर्धित रूप है जिसमें वर्तमान युग में प्राप्ता सभी उपादेय सामग्री संकलित कर दी गई है ।

भूमिका रूप में मैंने जो कुछ लिखा है उसमें मेरा अपना कुछ नहीं है । इस प्रबन्ध को पढ़कर जो प्रभाव मेरे मन पर अंकित हुए, उन्हीं को सार रूप में लिख दिया है । यह भूमिका इस प्रबन्ध की विवरणात्मक अनुक्रमणिका मात्र है । विषय-वस्तु का व्याख्यात्मक परिचय भी इसे कहा जा सकता है । श्री खण्डेलवाल जी के सौहार्द और सौजन्य की मुझपर कुछ ऐसी छाप पड़ी कि मैं उनके आग्रह को टालने का साहस नहीं कर सका और इतनी लम्बी भूमिका लिखकर ही मुझे सन्तोष हुआ । श्री खण्डेलवाल जी एक प्रतिभा-सम्पन्न, अध्यवसायी और मेधावी साहित्यिक हैं । कवि के रूप में उनकी प्रतिभा का परिचय हमें उनके तीन प्रकाशित कविता-संग्रहों से मिल चुका है । मौलिक निबंधों का संकलन भी उनके पास तैयार है । ‘आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौंदर्य’ नामक विषय पर उन्होंने अभी-अभी अपना शोध-पूर्ण ग्रंथ समाप्त किया है । अध्यापक, आलोचक, कवि और निबंधकार सभी रूपों में वे साहित्य-साधना कर रहे हैं । मेरा विश्वास है कि उनकी प्रतिभा के विकास के साथ हिन्दी साहित्य को स्वस्थ और सुन्दर साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध होंगी । तथास्तु—

दिल्ली विश्वविद्यालय,

दिल्ली

विजयेन्द्र स्नातक

२० सितम्बर १९५४.

प्रथम प्रकरण

काव्य और प्रकृति का चिरन्तन सम्बन्ध

काव्य और प्रकृति

प्रकाश और स्वतन्त्रता मानवात्मा की अमर सम्पत्ति है। इस प्रकाश और स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति नाम रूपात्मक जगत् के बीच अनेक अवसरों पर अनेक रूपों में होती है। सत्त्वोद्रेक की पुण्य-दशा में आत्मा को जब अपनी अखण्डता, अनन्तता और एकरसता की मधुर अनुभूति होती है उस समय मनुष्य को वस्तु-जगत् का कण-कण एक उज्ज्वल और दिव्य दीप्ति से आलोकित-सा भासित होने लगता है। संसार का प्रत्येक रूप और व्यापार एक ही शक्ति से स्पन्दित और एक ही ज्योति से आलोकित होता हुआ जान पड़ता है। किन्तु आत्मा की यह प्रकाशानुभूति इतनी प्रबल, एकरस और अखण्ड होती है कि उसके आगे बाह्य जगत् की समस्त सत्ताएँ उसी आन्तरिक माधुर्य एवं ज्योति का ही प्रतिबिम्ब-मात्र जान पड़ती हैं। प्रकाश की शुद्ध अनुभूति आत्मा को ही होती है। सृष्टि के आरम्भ में, ज्ञान के अरुणोदय में, पवित्र भारतीय आकाश के नीचे स्वच्छन्द विचरने वाले दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न क्रान्तदर्शी ऋषि-मुनियों का कण्ठ प्रकाश की इसी मञ्जुल आन्तरिक अनुभूति के वेग में स्वतः फूट पड़ा था—

“न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं तपन्तम् ॥”

—मुण्डकोपनिषद् २।२।१०

अर्थात्, उस ब्रह्म में सूर्य प्रकाश नहीं करता, चन्द्रमा और तारागण भी प्रकाश नहीं करते, न यह विजलियाँ उसका प्रकाश करती हैं, यह भौतिकाग्नि कहाँ प्रकाश कर सकता है, उस स्वयं-प्रकाश के पीछे ही सब प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से सब तेजोमण्डल प्रकाशित होता है, वह स्वयं नहीं ।

यह आत्मा की शुद्ध प्रकाशानुभूति की अवस्था है । बाहर व्यक्त प्रकृति में जो भी दीप्ति, कान्ति, प्रसन्नता, प्रकाश, उल्लास, सौन्दर्य, माधुर्य आदि का दर्शन होता है वह सब उसी की व्यक्त, भौतिक अभिव्यक्ति है । अतः बाह्य प्रकृति का सम्बन्ध हमारी आत्मा से है । ‘रसो वै सः’ (तैत्तिरीयोपनिषद्) । आत्मा रसमय है । आत्मा के प्रतिबिम्बस्वरूप प्रकृति भी रसमय है । रसानुभूति के नाते आत्मा और काव्य का सम्बन्ध नित्य है । * अतः प्रकृति और काव्य का सम्बन्ध भी सनातन और अखण्ड है ।

आदि-कवि वाल्मीकि की पावन वाणी प्राकृतिक परिस्थिति में ही फूटी । सधन वनस्पति-आच्छादित पुण्य-सलिला तमसा के निभृत तट पर क्रौञ्चवध के अत्यन्त कारुणिक प्रसंग पर “छन्दोमयी देवी वाणी का आकस्मिक उच्चारण” हो गया—

मा निपाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधाः काममोहितम् ॥

अपनी आत्मा की निर्मलता में, वैदिक कवियों को भी बाह्य प्रकृति के कण-कण में अजस्र मंगल-वर्षा की अनुभूति हुई—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । मार्ध्वीर्नः सन्वोषधाः ।

मधु नक्तमुतोपसो मधुमत्पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।

(ऋग्वेद १।६०।६)

* “काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है……” ‘प्रसाद’ (काव्य कला और अन्य निबन्ध

प्राचीन यूनानी और रोमी काव्यों में संगीत की प्रधानता के साथ बाह्य प्रकृति का प्रचुर ग्रहण होता था। पिण्डारिक गीतों * (Pindaric Odes) से यह स्पष्ट लक्षित होता है। प्राकृतिक परिस्थितियों के बीच वन्य और ग्रामीण जीवन के भरपूर चित्र उन काव्यों में भरे पड़े हैं। प्राचीन अंग्रेजी काव्य में भी यही प्रकृति-प्रेम अपने मूल रूप में दिखाई पड़ता है। शेक्सपियर प्रकृति की ललित गोद में पल कर ही मानव और प्रकृति के आत्मिक सम्बन्ध का रहस्य समझ सका—

Far from the sun and summer-gale
In thy green lap was Nature's darling laid.....
To him the mighty Mother did unveil
Her awful face : the dauntless child
Stretched forth his little arms, and smiled.
This pencil take (she said), whose colours clear
Richly paint the vernal year :

('Progress of Poesy' : T. Gray)

मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का मनुष्य के रागात्मक हृदय से सीधा सम्बन्ध है। इसकी प्रामाणिकता सृष्टि की आदिम अवस्था में भली भाँति देखी जा सकती है। भीषण जल-प्लावन प्रकृति और मानव के पश्चात् चिंता, आशा, क्षोभ, आदि की मिश्र अनुभूति के क्षणों में बैठे 'कामायनी' के मनु की आँखों के आगे तत्वों की जो महाक्रीड़ा चल रही है उसका गम्भीर संस्कार उनके हृदय पर पड़ता जा रहा है। उस निर्जन

* Awake, Aeolian lyre, awake,
And give to rapture all thy trembling strings.
From Helicon's harmonious springs
A thousand rills their mazy progress take :
The laughing flowers that round them blow
Drink life and fragrance as they flow.

—“Progress of Poesy” (T. Gray)

गिरि-प्रदेश में श्रद्धा से उनकी भेंट होती है। उस समय तक सृष्टि का विकास और सभ्यता का प्रवर्तन आदि कुछ नहीं होता। उस समय हम सृष्टि की आदिम अवस्था—प्रकृति और हृदय की मूल अनुभूति-शून्य अवस्था का ही परिचय पाते हैं। शनैः शनैः मनु बाह्य प्रकृति में नाना रूप-रंग तथा ध्वनियों का इन्द्रजाल अपने चतुर्दिक फैला हुआ पाते हैं। रात और दिन का नियमित परिचालन हो रहा है और इस प्रकार नवीन सृष्टि-चक्र चल पड़ता है—

ओ नील आवरण जगती के दुबोध न तू ही है इतना,
अव्युंठन होता आंखों का आलोक रूप बनता जितना।

चल चक्र वरुण का ज्योति भरा व्याकुल तू क्यों देता फेरी,
तारों के फूल बिखरते हैं लुटती है असफलता तेरी।

अगुओं को है विश्राम कहाँ यह कृतिमय वेग भरा कितना,
अविराम नाचता कम्पन है उल्लास सजीव हुआ कितना।

आकाश रन्ध्र हैं पूरित से यह सृष्टि गहन सी होती है,
आलोक सभी मूर्छित सोते यह आंख थकी सी रोती है।

सौन्दर्य मयी चञ्चल कृतियां बन कर रहस्य हैं नाच रही,
मेरी आंखों को रोक वहीं आगे बढ़ने में जांच रही।

—कामायनी (‘काम’ सर्ग)

इस प्रकार हम अभिनव-माधुर्य-पूर्ण रूप-रंग के आकर्षण से पूर्ण प्रकृति को मनु के समक्ष फैली हुई पाते हैं। श्रद्धा के साथ रहते रहते मनु ज्यों ज्यों इस दृश्य-प्रसार पर चिन्तन करते हैं त्यों त्यों उनमें रागात्मिका वृत्ति अंकुरित व पल्लवित होती जाती है। यह रागात्मिका वृत्ति समय पाकर इतनी प्रबल हो जाती है कि उसके वेग में वे सब कुछ सहने को तैयार हैं। सृष्टि के विकास की मूल प्रेरणा भी यही वृत्ति है, इसका भी रहस्यपूर्ण संकेत मिल जाता है—

जो कुछ हो मैं न सम्हालूंगा इस मधुर भार को जीवन के,

आने दो कितनी आती हैं बाधाएं दम संयम बन के। —कामयनी (काम सर्ग)

यों हम मनुष्य के हृदय की मूल वृत्ति का प्रकृति के साथ सीधा लगाव 'कामायनी' में निरूपित हुआ पाते हैं। सृष्टि-विकास के साथ उत्तरोत्तर नव-विकसित सभ्यता की जटिलताओं के बीच भी हम इन दोनों का सम्बन्ध अभिन्न देखते हैं। आज की वैज्ञानिक और बुद्धि-प्रधान सभ्यता के कर्म-व्यग्र युग की भीषण अशांति के बीच भी मनुष्य प्रकृति और मानव-हृदय के बीच स्फुरित हुए उसी आदिम सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह करता हुआ चला जा रहा है। अनियन्त्रित व तथ्य-संग्रहकारिणी तर्क-बुद्धि के घोर और उन्मत्त उपासक होकर हमने अपने हृदय का असली अंश खो दिया किन्तु फिर भी प्रकृति से चिरन्तन सम्बन्ध स्थापित रखती हुई हमारी प्रकृति-प्रेम की मूल रागात्मिका वृत्ति हम में अभी बहुत कुछ सुरक्षित है। बगीचे लगाना, हार-थक कर शीतल दूब पर लेट कर आकाश तथा तारों को देखकर स्निग्ध शांति का अनुभव करना, वेणी में फूल गूँथना, घर में कुत्ते-बिल्ली पालना, मेज पर फूलदान रखना, सभा-सोसाइटी में गुलदस्ता भेंट करना, कोट में फूल लगाना आदि हमारे अन्नःकरण में गहरी छिपी प्रकृति-प्रेम की आदिम वासना की सूचना देता है तथा निर्जीव विज्ञान-प्रवर्तित बुद्धि-व्यापारों के सघन कुहरे से अच्छादित हमारे हृदय के सही सलामत होने का संकेत करता है।

प्रकृति के प्रति मनुष्य के हृदय में आकर्षण सहज और स्वभाविक है। बच्चा रंग-बिरंगे खिलौने देखकर रोना भूल जाता है और उनसे खेलने लगता है। चन्द्रमा की ओर नन्हे-नन्हे हाथ फैलाकर वह उसे पकड़ने की चेष्टा करता है और रोता है। रूप-रंग के प्रति यह आकर्षण मनुष्य के हृदय में जन्म-जात है। कर्णामय भगवान् ने अपनी प्यारी सृष्टि के मनोरंजन के लिए नाना रूप-रंगों के अगणित भव्य और रमणीय उपकरण पृथ्वी पर जुटा दिए। चाँद, तारे, उपा, सन्ध्या, फूल-पत्ती, तितली, आकाश, नदी, तलहटी, हिम-कण,

पक्षी, मेघ आदि की रचना उसके इसी मनोरंजन के मंगल उद्देश्य का परिणाम है। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी जगत्पिता के इसी उद्देश्य की रहस्यपूर्ण झलक प्रकृति के क्षेत्र में मिली है—

“When I bring to you coloured toys, my child, I understand why there is such a play of colours on clouds, on water, and why flowers are painted in tints—when I give coloured toys to you, my child.”

—Gitanjali, 62.

अर्थात्, हे बालक ! जब मैं तुझे रंगीन खिलौने लाकर देता हूँ तब मेरी समझ में आता है कि बादलों में और जल पर रंगों की यह क्रीड़ा क्यों होती है और फूल नाना प्रकार के रंगों से क्यों चित्रित हो रहे हैं !

यहाँ तक तो प्रकृति और मानव-हृदय की बात हुई। अब काव्य और प्रकृति के बीच संबंध-स्थापन के लिए यहाँ से दूर नहीं जाना होगा। काव्य का लक्ष्य मनुष्य की भावात्मक सत्ता पर अपना मार्मिक और गूढ़ प्रभाव डालना है, अतः कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह उन्हीं रूपों और व्यापारों की सुसम्बद्ध योजना काव्य में करे जो कि पाठक के हृदय का मार्मिक स्पर्श कर सके। मनुष्य का हृदय अनेक-भावात्मक है अतः उन अनेक भावों के संचरण के लिए कवि ऐसे लोक-सामान्य और विश्व-हृदय-स्पर्शी आलम्बनों को अपना विषय बचावे जो एक ओर तो उसके लोक-हृदय को पहचानने की शक्ति के परिचायक हों और दूसरी ओर पाठक के हृदय के साथ उनका पूरा पूरा साधारणीकरण हो। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों की तृप्ति के लिए प्रकृति के पुनीत और रमणीय प्रांगण में जितना अक्षय भाण्डार भरा पड़ा है उतना और कहीं नहीं। प्रकाश और अंधकार, जन्म और मरण, सुख और दुःख, हास और अश्रु के नैसर्गिक द्वंद्व के बीच में से अव्यक्त काल से छूटी हुई सृष्टि बराबर अग्रसर होनी जा रही है।

अतः सुख और दुःख अथवा प्रकाश और अन्धकार जगत् और जीवन के नित्य पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों के भीतर मानव-हृदय की सब वृत्तियों का समावेश हो जाता है और दोनों की अभिव्यक्ति प्रकृति के खुले क्षेत्र में होती है।

प्रकृति और रहस्य

प्रकृति की अलौकिक रूप-विभूतियों का साक्षात्कार करते करते उनके सौन्दर्य के प्रभाव के कारण भावुक हृदय में दार्शनिक रहस्य-भावना का स्फुरण हो जाना स्वाभाविक है। (बाह्य जगत् में हम ऐसे अनेक भव्य, आकर्षक और मनोहर रूपों का प्रायः दर्शन करते हैं जिनका कि निर्माण मानुषी करों से अमम्भव है। देदीप्यमान कान्तिपुञ्ज रागारुण प्रभातकालीन सूर्य, रंगीन इन्द्र-धनुष ज्योतिर्मान उज्ज्वल कुन्द-शुभ्र तारागण, शीतल नेत्ररञ्जक पीयूषवर्षी सुधांशु, स्वर्गिक मुसकान से उल्लसित रंग-विरंगे किञ्जल्कपूर्ण पुष्प, पुलकाकुल मञ्जुभापी विहंग, पतझड़ के पश्चात् मधुमास में फूटे नवीन रक्त किशलय, कुङ्कुम, दूर्वा आदि नाना पदार्थों की रचना किसी अज्ञान शक्ति के करों द्वारा ही सम्भव है। उन्हें देखकर भावुक हृदय स्वभावतः परीक्ष सत्ता का निश्चय पा जाते हैं और फलतः उनके हृदय में उस अदृश्य सत्ता की रचनात्मक शक्ति पर भी विश्वास जम जाता है और उसमें रहस्य-भावना की प्रतिष्ठा हो जाती है। सौन्दर्य-दर्शन के गम्भीर प्रभाव का यह स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है, अतः काव्य-क्षेत्र में इस प्रकार की रहस्य-भावना का भी एक उच्च स्थान है। किन्तु यह रहस्य-भावना अपने स्वाभाविक रूप में ही काव्य में गृहीत होनी चाहिए; साम्प्रदायिक और रूढ़ रूप में नहीं जिससे कि काव्य की सहज मानवीय और व्यापक दृष्टि संकीर्ण व रूढ़ भावना के धूस्र से आच्छादित हो जाती है। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में जल-प्लावन से बचे हुए मानवों के आदि पुरुष मनु के हृदय में भी

इस प्रकार की स्वाभाविक रहस्य-भावना का स्वरूप एक विशिष्ट भौगोलिक प्रदेश में, नायक के हृदय में उपवृक्त मनोवैज्ञानिक भूमिका बना कर अंकित किया है। सामने फैले हुए अपार रूप मनु को वीतूहलमय और रहस्यपूर्ण लग रहे हैं और उनकी जिज्ञासा जग पड़ती है—

“महानील इस परम व्योम में, अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह नक्षत्र और वियुक्ताङ्ग किमका करने हैं सन्धान । × × ×”
हे अनन्त रमणीय, कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता ।” (‘आशा’ सर्ग)

* * *

‘सौंदर्यमयी चञ्चल कृतियां बन कर रहस्य हैं नाच रहीं ।’ (‘काम’ सर्ग)

इसी काव्योचित स्वाभाविक रहस्य-भावना का आदि स्फुरण हम अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों में पाते हैं जब कि वे अपने चतुर्दिक फैले प्राकृतिक प्रसार पर गम्भीर चिन्तन करते हुए सृष्टि के रहस्य को समझने का प्रयत्न करते थे। आकाश, पृथ्वी, जल, पवन आदि सत्ताओं पर विचार करते करते उनके कंठ से रहस्य-वाणी स्वभावतः ही फूट पड़ी थी—

“केनेयं भूमिर्विहिता केन यौ रत्तरा हिता । केनेद मूर्ध्व तिर्यक् चान्तरिक्षं
व्यचोहितम्” (ब्रह्मसूक्त ३)

अर्थात्, यह पृथ्वी किसने बनाई ? किसने ऊपर द्युलोक और स्वर्ग रचा है ? किसने यह अन्तरिक्ष, बीच का तिरछा और व्यापक आकाश रचा है ?

पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन करते करते जायसी की दृष्टि इस पार्थिव जगत् से उठकर अनायास ही लोकबाह्य पारमार्थिक अदृश्य सत्ता की ओर चली जाती है—

हीरा लेइ सो विद्रम धारा । विहंसत जगत होइ उजियारा ॥
रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती । रतन पदारथ मानिक मोती ॥

जहं जह विइंसि सुभावहि हंसी । तहं तहं छिटकि जोति परगसी ॥

—‘पद्मावत’

‘पत’ प्रकाश की अभिव्यक्ति को लेकर चले हैं । किन्तु सौन्दर्य के प्रबल प्रभाव से अन्तर्मुख हो कर वे उसी रहस्य-छाया में पहुँच जाते हैं :—

सघन मेघों का भीमाकाश, गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर उच्छ्वाम, प्रवर भरती जब पावस धार,
न जाने तपक तड़ित में मौन, मुझे इंगित करता तब कौन !

(पल्लव)

यह रहस्य कितना मधुर, कितना सच्चा और कितना मर्म-स्पर्शी है ! भीम-भयंकर कजगरे मेघों के संघर्षण से चमकी हुई विजली में किसी अज्ञान के संकेत का अनुभव करना कितना स्वाभाविक है ! जैसे बालक के भोले हृदय ने यह अनुभव किया हो; उसकी भोली आँखों ने यह देखा हो ! अलंकारविधान से सर्वथा मुक्त ऐसी ही सरल उक्ति हृदय को सीधी जा कर छूती है । ‘इस रहस्य में न इड़ा, पिगला और मुपुम्ना का सञ्चार है, और न “नौ पौरी पर दसम दुआरा” पर घड़ियाल बजते हैं ।’ काव्योपयोगी रहस्यवाद यही है ।

अंग्रेज कवियों में शेली, वर्ड्सवर्थ आदि में भी ऐसा ही स्वाभाविक रहस्यवाद कहीं कहीं मिलता है । शेली स्वप्न में एक बार वसन्त-कालीन लता-द्रुमों में आच्छादित शान्त सरिता-नट पर पहुँच कर एक सुन्दर हार बनाते हैं और फिर पुलकित हो कर उसे लिए यह कह कर चल पड़ते हैं कि “यह उसे अर्पित करूँ, पर अरे किसे ?”—

I made a nosegay.....

Kept these imprisoned children of the Hours

Within my hand,—and then elate and gay,

I hastened to the spot whence I had come,

That I might there present it—O ! to Whom ?*

* आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के ‘काव्य में रहस्यवाद’ से भावार्थ सहित उद्धृत ।

इस 'किसे' में स्वाभाविक रहस्य-भावना और अद्वैत का स्वरूप अत्यन्त हृदयहारी है ! एक दूसरी कविता में उन्होंने स्त्रीत्व का आध्यात्मिक आदर्श उास्थित करने वाले नायक के द्वारा प्रकृति के क्षेत्र में प्रिया की मधुर वाणी कहाँ कहाँ से आती है इसका कथन करवाया है—

In solitudes,

Her voice came to me through the whispering woods
And from the fountains, and the colours deep
Of flowers which, like lips murmuring in their sleep
Of the sweet kisses which had lulled them there,
Breathed but of her to the enamoured air;
And from the breezes, whether low or loud,
And from the rain of every passing cloud,
And from the singing of the summer-birds,
And from all sounds, all silence.

भावार्थ—निर्जन स्थानों के बीच मर्मर करते हुए काननों में, झरनों में, उन पुष्पों की पराग गन्ध में जो उस दिव्य चुंवन के सुख-स्पर्श-से सोए हुए कुछ वरति से मुग्ध पवन को उसका परिचय दे रहे हैं; इसी प्रकार मन्द या तीव्र समीर में, प्रत्येक दौड़ते हुए मेघखण्ड की झड़ी में, बसन्त के विहंगमों के कल-कूजन में, तथा प्रत्येक ध्वनि में, और निस्सन्धता में भी मैं उसी की वाणी सुनता हूँ ।*

वर्ड्सवर्थ ने भी कहीं कहीं प्रकृति की अन्तरात्मा की ओर रहस्यपूर्ण संकेत किया है । उसके विषय में और अधिक, आगे अंग्रेज कवियों पर विचार करते समय कहा जायगा ।

प्रकृति और सौन्दर्य

भगवान् की तीन विभूतियों—शक्ति, शील, और सौन्दर्य—में से

* भावार्थ सहित अंग्रेजी उद्धरण आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के 'जायसी ग्रन्थावली' नामक ग्रन्थ की भूमिका में उद्धृत ।

कवि 'सौन्दर्य' को, तथा ब्रह्म की तीन शक्तियों—सत्, चित् और 'आनन्द' में से 'आनन्द' को लेकर चला। व्यक्त जगत् के बीच फैली भगवान की मंगल कला का दर्शन कर उसका हृदय रम से ओतप्रोत हो कर छलक उठा। आँखों के सामने प्रत्यक्ष फैले संसार में उसे इतना अथाह सौन्दर्य, माधुर्य और मंगल दिखाई पड़ा कि जानियों की तरह उसने 'घट' के भीतर झाँकने की आवश्यकता ही नहीं समझी। आदि-कवि वाल्मीकि, कवि-शिरोमणि कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर आदि कवि ब्रह्म के व्यक्त पक्ष को ही ले कर चले। बाह्य-प्रकृति की अलौकिक रूप-माधुरी पर मुग्ध होकर उन्होंने अपने आराध्य देवों को लोक-जीवन के बीच में ही प्रतिष्ठित किया। सौन्दर्य और आनन्द की साक्षात् मूर्ति सूर ने अपने आराध्य देव कृष्ण की लीला का दर्शन प्रकृति के रमणीय प्रांगण में ही ले जा कर कराया। कलिन्दजा-कूल के वसन्त-पवन पुलकित कुन्द-शुभ्र दुग्ध-फेनोपम चांदनी से धुलकर चमक-उठे ललित-प्रसन्न तमाल-कुञ्जों में वृज-कान्ताओं के गंग रास-क्रीड़ा करते मुरली-मनोहर की रूप-माधुरी को ध्यान में लाकर अन्धे सूर ने अभिनव माधुर्य, दिव्य आनन्द, और उल्लास से पूर्ण अलौकिक प्रेम-संगीत की जो अजस्र रममयी कल्लोलिनी बहाई उसमें भवत-हृदय डूब-डूब कर भी न अघाए। अपने काव्य में प्रकृति का प्रचुर सन्निवेश करने के कारण ही सूर की आँखों के आगे जगमगते सौन्दर्य का आनन्द-लोक उपस्थित हुआ। महाभारत में सैन्य-संचालन करने वाले कृष्ण का स्वरूप उन्हें अपनी प्रकृति के प्रतिकूल जान पड़ा। सौन्दर्य तो मानों सूर के काव्य का प्राण है। सौन्दर्य की ऐसी पुण्य और अलौकिक झाँकी वसुन्धरा पर और कहाँ मिलेगी—

शोभित कर नवनीत लिए।

धुंदुरत चलत रेणु तन मंडित मुख दधि लेप किये।

सूर ने कनक-आँगन में क्रीड़ा करते कन्हैया का भी सौन्दर्य

देखा और कुंजों में रास रचाते कृष्ण का भी । रसखान को, सम्बन्ध भावना के कारण, 'करील के कुंज' भी इतने प्यारे लगे कि वे उस पर सब कुछ निछावर करने को राजी हो गए—

कोटिक हौं कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौ ।

करीलों पर भी सहृदयों के द्वारा जब इतना ऐश्वर्य्य वारा जा सकता है तब फिर समस्त समस्त संसार की प्राकृतिक रूप-विभूति कितनी मूल्यवान् होगी, यह सौन्दर्य्य-दृष्टि-शील सहृदय ही समझ सकते हैं ।

प्रकृति और आनन्द

काव्य की चरम साधना 'आनन्द' है । इसके लिए कवि और श्रोता दोनों को मनुज-प्रवर्तित कृत्रिम भेद-भावों से सर्वथा मुक्त होना वांछित है । ऐसा होने पर ही संसार का सच्चा सुख मिल सकेगा । जब मन में यह दिव्य अनुभूति होगी कि जिस प्रकाश से चन्द्रमा, सूर्य्य, बिजली, नक्षत्र, खद्योत आदि आलोकित हो रहे हैं उसी प्रकाश की किरण किलकटे हुए शिशु के तथा उसकी ममतामयी माता के नेत्रों से फूटती है, उसी प्रकाश से दीपशिखा जलती है और वही प्रकाश देश के लिए उत्सर्ग होने वाले कर्मोत्साहपूर्ण वीर की आँखों में चमकता है । तभी जीवन के मूल में निवास करने वाली सत्ता का हमें भान होगा और हम आत्मिक आनन्द का अनुभव कर सकने में समर्थ होंगे । इसी प्रकार जिसकी भावना में यह बात बैठ जायगी कि जिस आत्मिक स्वतंत्रता से पक्षी उड़ता है, समुद्र की लहर उमड़ती है, स्वेद-सिक्त श्रमजीवी कारखाने से लौट कर सन्ध्या की शीतल प्राणदा पवन का स्पर्श पाकर गा उठता है, बच्चा नितबी के पीछे दौड़ता है, वह सब स्वतन्त्रता अपने मूल रूप में एक ही है । तभी आत्मा का आनन्द झलकने लगेगा ।

काव्य भाव-मार्ग से इसी आनन्द का उद्घाटन करता है। व्यष्टि रूप में यह प्रकाश और स्वतंत्रता भिन्न भिन्न रूपों में दिखाई पड़ती है पर समष्टि रूप में यह सब एक ही विश्वात्मा की विभूति है। तात्पर्य यह है कि अनेक भेद-भावों से उठकर जिसका हृदय 'अभेद' अथवा 'एकत्व' तक इस भावना से पहुँच जायगा उसे ही सच्ची रसानुभूति होगी। यह रसानुभूति हृदय की उपर्युक्त उदार दशा के बिना सम्भव नहीं। हृदय की जिस उच्च अवस्था अथवा भूमिका में पहुँच कर सहृदय पाठक को यह आनन्दानुभूति अथवा रसानुभूति होती है उसे पातञ्जल-सूत्रों के भाष्यकर्ता भगवान् व्यास 'मधुमती भूमिका' कह कर उसका यों वर्णन करते हैं—

मधुमती भूमिकां साक्षात्कुर्वतोऽयं देवाः सत्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरूपनिमंत्रयन्ते—
भो इहायताम् , इहरम्यताम् , कमनीयो यं भोगः कमनीयेयं कन्या, रमायनायिदं
जरामृत्युं वाधते; वैहायसमिदंयानम् , अमी कल्पद्रुमाः पु या मंदाकिनी, मिद्धा
महर्षयः उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्र चक्षुषि, वज्रोपमः कायः स्वगुणैः
सर्वमिदमुपाजितमायुःमता, प्रतिपद्यतामिदमन्नयमजरममरस्थानं देवनां प्रियमिति ।*

गीता में निरूपित 'समत्वं योग उच्चते' भी भाव-दृष्टि से देखने पर इसी भूमिका की ओर संकेत करता जान पड़ता है। 'कामायनी' में 'प्रसाद' जी ने श्रद्धा को मंगल-शक्ति से रूप में दिखा कर उसके योग से जीवन के आनन्दमय हो जाने की भावना को मूर्त रूप देने के लिए हिमालय प्रदेश की यात्रा और मानसरोवर का जो रूपक बाँधा है और आनन्द-भूमि की प्रतिष्ठा की है वह भी उपर्युक्त 'मधुमती भूमिका' ही है क्योंकि वहाँ पर आत्मा की स्निग्ध शांति की व्याप्ति और समरसता की भावना से प्रसूत अखण्ड आनन्द ही अनुभूत कराया है—

* आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र के 'मधुदूत' के अनुवाद की भूमिका से उद्धृत।

मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर
कैलास और दिखलाया;
बोले “देखो कि यहां पर
कोई भी नहीं पराया।

शापित न यहां है कोई
तापित पापी न यहां है;
जवन-वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहां है।

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे ! ‘यह मैं हू’
यह विश्व नाड बन जाता ।”

(‘आनन्द’ सर्ग)

इसी पुण्य भूमि पर आकर जगत् के समस्त कल्याण, रस, आनन्द मुक्ति आदि ‘एक’ हो जाते हैं। काव्य का लक्ष्य आनन्द की यही ‘मधुमती भूमिका’ है जहाँ सहृदय पाठक कुछ काल के लिए अपने व्यावहारिक जीवन के “स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठ कर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर पहुँच जाता है”

और उसे “जगत् की नाना गतियों के मार्मिक हृदय के ‘आनन्द’ के स्वरूप का साक्षात्कार होता है तथा उसके साथ बाह्य प्रकृति हृदय में शुद्ध अनुभूतियों का सञ्चार होता है।” ‘कामायनी’ के उसी ‘आनन्द’ सर्ग में

का सम्बन्ध

हमारे प्रस्तुत विषय—प्रकृति—का महत्व निरूपित हुआ है। अन्तर्जगत् और वहिर्जगत्-आपी आनन्द-तरंग में प्रवाहित होने वाले उन यात्रियों—इड़ा, श्रद्धा, मनु आदि—की आन्तरिक भावना के मूर्त प्रत्यक्षीकरण के लिए बाह्य प्रकृति के ललित-ऐश्वर्यपूर्ण वसन्त-विकास का ही रसात्मक वर्णन हुआ है। इससे स्पष्ट है कि हृदय के ‘आनन्द’ के साथ बाह्य प्रकृति का घनिष्ठतम सम्बन्ध है। ग्रन्थ के अन्तिम चरण “आनन्द अखण्ड घना था” से ‘प्रसाद’ जी ने एक ओर तो मानव-जीवन के चरम लक्ष्य का प्रतिपादन किया है और साथ ही काव्य के चरम लक्ष्य—रस अथवा आनन्द—की सिद्धि का भी परोक्ष रूप में संकेत कर दिया है।

द्वितीय प्रकरण

काव्य में प्राकृतिक-दृश्य-चित्रण

(सिद्धान्त)

पिछले प्रकरण में हम काव्य और प्रकृति का पारस्परिक संबंध और महत्त्व निरूपित कर चुके हैं। अब इस प्रकरण में काव्य में प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण की विभिन्न पद्धतियों पर, आलोचकों द्वारा किए गए वैज्ञानिक विवेचन के आधार पर, कुछ विचार किया जायगा। तदनंतर साहित्य-मीमांसकों की दृष्टि से प्रकृति-चित्रण के सामान्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जायगी।

दृश्य-चित्रण पर विद्वानों के विचार

दृश्य-चित्रण पर निम्नलिखित उद्धरण विचारणीय हैं:—

“प्राकृतिक दृश्य-वर्णन-मात्र को, चाहे कवि उसमें अपने हर्ष आदि का कुछ भी वर्णन न करे, हम काव्य कह सकते हैं।.....”

“मैं आलम्बन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।”*

पं० रामचन्द्र शुक्ल

“I do not give you my experience of looking at a landscape if my words merely represent what I have seen, nor if they merely represent my feelings : if this experience is to be matter of literature it must be experience whole and entire, both what I saw and what I felt in perfect combination.”

Abercrombie: (The Principles of Criticism)

अर्थात्, किसी प्राकृतिक दृश्य को देखकर उसकी वस्तु-स्थिति मात्र का यदि मैंने विशद चित्रण करके रख दिया तो न तो वह

* चिन्तामणि भाग २ : ‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’ नामक लेख।

साहित्य की वस्तु होगी, और न केवल उस दृश्य का जो मुझ पर प्रभाव पड़ा है उसकी व्यंजना मात्र ही। यदि मेरी अनुभूति काव्य कहलाने की अधिकारिणी हो सकती है तो वह तभी होगी जब कि मैं उस दृश्य के दोनों पक्षों का चित्रण करूँ—जो कुछ भी वस्तु-व्यापार मैंने देखा और दूसरे, जो भी उसका मेरे हृदय पर प्रभाव पड़ा। इन दोनों के प्रौढ़ और सुष्ठु सामञ्जस्य के बिना मेरी अनुभूति कविता नहीं कहलाएगी।

“Descriptions, then, whether of physical beauty or of nature, are, as such, outside the limits of the art of poetry.”* Lessing.

अर्थात्, शारीरिक सौन्दर्य अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन काव्य-क्षेत्र के बाहर की वस्तुएँ हैं।

काव्य में प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण पर तीन प्रकाण्ड पंडितों की सम्मतियाँ ऊपर उद्धृत हैं। तीनों के कथन परस्पर भिन्न भिन्न हैं। अचार्य्य शुक्ल जी ने अपने कथन में विभाव-पक्ष पर अत्यधिक जोर दिया है। लेसिंग ने प्रकृति का तो क्या शारीरिक सौन्दर्य तक का वर्णन काव्य के लिए अनुपयुक्त ठहराया है। अबरक्राम्बे ने मध्यवर्ती मार्ग का ग्रहण कर भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष का समन्वय कर दिया है।

चित्रकला और काव्य दोनों ही बाह्य प्रकृति को अपना विषय बनाते हैं। किन्तु चित्रकला और काव्यकला चित्रकला और कविता दोनों भिन्न कोटि की कलाएँ हैं। अबएव उन में प्रकृति का ग्रहण भी भिन्न रूपों में होना चाहिए। यह भिन्नता किस रूप में रहती है इसकी सम्यक् विवेचना करने के लिए चित्र और कविता में अन्तर समझना आवश्यक है।

* W. Basil Worsfold : The Principles of Criticism : Page 109 (1923 edition)

साथ ही उनका सम्बन्ध भी समझ लेना समीचीन होगा । ऐसा करने से ऊपर के उद्घरणों पर भी प्रकाश पड़ेगा और प्रकृति-चित्रण के स्वरूप का भी बोध हो जायगा ।

‘दृश्य’ की परिभाषा देते हुए आचार्य्य शुक्ल जी लिखते हैं, “दृश्य” शब्द के अन्तर्गत, केवल नेत्रों के विषय का ही नहीं, अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का भी (जैसे, शब्द, गंध, रस) ग्रहण समझना चाहिए ।” रस की पूर्ण प्रतीति के लिए दृश्य का यथातथ्य, संश्लिष्ट और विशद चित्रण आवश्यक है । इसके लिए पाठक को उस दृश्य का “बिम्ब-ग्रहण” कराना अपेक्षित होता है । “कवि का लक्ष्य ‘बिम्ब-ग्रहण’ कराने का रहता है, केवल अर्थ-ग्रहण कराने का नहीं । वस्तुओं के रूप और आसपास की परिस्थिति का व्यौरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण बिम्ब-ग्रहण होगा, और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा ।”

कविता में बाह्य प्रकृति का हृवहू या यथातथ्य चित्रण होना चाहिए अथवा उसके कुछ अंगों को लेकर संकेत-मात्र से काम चला लेना चाहिए—इस पर पश्चिम में प्लेटो (Plato) और अरस्तू (Aristotle) के समय से ही बहुत वाद-विवाद होता आया है । कविता में कवि को बिम्ब-ग्रहण कराना चाहिए । पर पश्चिम में लेसिंग ने होमर के एक काव्य-चित्र की प्रशंसा करते हुए एक स्थल पर होमर द्वारा अंकित एक शब्द-चित्र दिया है जिसका भाषान्तर यह है :—

“पेन्डेरस ने अपना धनुष उठाया, उस पर प्रत्यंचा चढ़ाई, फिर तूणीर खोला, उसमें एक अच्छा सा अप्रयुक्त-पूर्व तीर चुना, फिर उसे धनुष पर चढ़ाया, प्रत्यंचा को जोर से छाती तक खींच कर धनुष ताना, तीर की अनी धनुष तक खिंच आई, फिर तीर आवाज करता हुआ द्रुतगति से छूटा, प्रत्यंचा में कम्पन

हुआ और तीर अपने लक्ष्य की ओर गया ।”*

लेसिंग ने इसे उत्कृष्ट काव्य-चित्र कहा है ! अब यदि इसे ही काव्य-चित्र कहने लगे और ‘विम्ब-ग्रहण’ से यही तात्पर्य हो तब तो एक छोटे से व्यापार के वर्णन में कई पृष्ठ भर जायेगे । विम्ब-ग्रहण का तात्पर्य संश्लिष्ट चित्रण द्वारा पाठक अथवा श्रोता को वस्तु-स्थिति का मार्मिक प्रत्यक्षीकरण कराना है न कि किसी वस्तु का क्रमबद्ध वर्णन करना । जो हो, हम एक ही दृष्टिकोण पर आश्रित न रह कर व्यापक दृष्टि से काव्य-चित्र और वर्ण-चित्र का अन्तर समझने का प्रयत्न करेंगे ।

चित्र और कविता में अन्तर

कविता और चित्र का स्थूल भेद दिग्दर्शित करते हुए वर्सफोल्ड (Worsfold) ने लिखा है—

“Broadly put, poetry represents what is in progression; painting, what is in juxtaposition.”

(Principles of Criticism P. 107)

अर्थात्, कविता में वस्तुओं की गत्यात्मक स्थिति का चित्रण होता है और चित्र में स्थिर वस्तुओं का ।

काव्य प्रधानतः	एक की वर्ण्य-वस्तु (Matter) गत्यात्मक
वस्तुओं की गत्यात्मक	(Dynamic) होती है और दूसरे की स्थिर
स्थिति का चित्रण	(Static) । किन्तु यह भेद अटल नहीं है ।
करता है और चित्र	क्योंकि साधारणतः दोनों कलाओं के कला-
स्थिर वस्तुओं का ।	कार आवश्यकतानुसार एक दूसरे के उपकरणों
	का उपयोग करते हैं । कवि बाह्य वनस्थली
	एवं वस्तुओं का (जो कि चित्रकला का प्रधान

* The Principles of Criticism—(Worsfold) Page 107.

क्षेत्र है) तथा उनकी गति अथवा व्यापारों का, दोनों का चित्रण करता है; पर चित्रकार तो केवल बाह्य रूपाकारों का ही चित्रण कर सकता है—गति अथवा व्यापारों का चित्रण उसके वश की बात नहीं। उसे अपने सब भाव वर्ण और रेखाओं में ही व्यञ्जित करने पड़ते हैं। कवि वस्तुओं का काल-क्रम (In Sequence of time) में चित्रण करता है और चित्रकार उन वस्तुओं का काल-क्रम में नहीं अपितु गति व्यापार-क्रम के किसी एक विशेष क्षण (Single moment of an action) में प्राप्ति स्थिति या दृश्य का चित्रण करता है। उसकी सामग्री किसी वस्तु की स्थिर स्थिति ही है। इसी सीमा के भीतर वह अपनी कला की उत्कृष्टता अथवा सफलता प्रदर्शित कर सकता है। इस दृष्टि से कवि दोनों प्रधान उपकरणों का उपयोग करता है। पर इतना होते हुए भी यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो कवि का वास्तविक क्षेत्र वस्तुओं के स्थूल आधार पर गति-चित्रण ही है; केवल वस्तु अथवा स्थल-चित्रण ही नहीं जो कि मुख्यतः चित्रकला के क्षेत्र की वस्तु है। चित्रकला और काव्य के पाश्चात्य गम्भीर समीक्षक लेसिंग ने भी यही प्रमाणित किया है कि चतुर्दिक स्थिति को लिए हुए, वस्तुओं (Bodies) का चित्रण ही चित्रकला का वास्तविक क्षेत्र है और गति व्यापार का चित्रण विशेषतः कविता का। क्योंकि चित्र में काल के एक क्षण विशेष का दृश्य उपस्थित रहता है और कविता में वस्तुओं के चित्रण के साथ ही काल-क्रम से चलती हुई उनकी गति का भी। साथ ही उस सम्पूर्ण स्थिति के प्रति जगे हुए एक ही अनुभव (Single impression) का मार्मिक प्रभाव-चित्रण भी कवि को करना वांछित होता है। * पर लेसिंग इन दोनों कलाओं के बीच सीमा-रेखा खींचते हुए यह भी कहता है कि सच पूछा जाय तो किसी भी कला का काल-क्रम अथवा वस्तु स्थिति (Sequence of time and

Juxtaposition in space) से कोई लेसिंग (Lessing) मतलब नहीं। कवि और चित्रकार दोनों ही प्रत्यक्ष वस्तुओं के सूक्ष्म व्यौरे देने नहीं बैठते के विचार अपितु दृश्य के प्रति उनके हृदय में जो भाव उठे हैं उन्हीं का वे प्रधानता से अभिव्यञ्जन करते हैं। कोई चित्रकार अपने चित्र में यदि किसी क्रिया या वस्तु-गतिशीलता का चित्रण करता है तो वस्तुतः वह किसी क्षण-विशेष में प्राप्त वस्तु की क्रिया चित्रित नहीं करता—जिस प्रकार कि किसी गतिशील मनुष्य का लिया हुआ फोटो। चित्रकार उस गति-विधि वाले क्षण विशेष का चित्रण गौण रूप में ही करता है, प्रधानता तो उसकी भाव-व्यञ्जना की ही रहती है। उस दृश्य अथवा क्रिया से उसके हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ा है इसकी व्यञ्जना ही अलम् है। चित्रकार का यही असली काम है। वस्तु की स्थिरता अथवा गतिशीलता से उसका अधिक सरोकार नहीं, वे तो निमित्त मात्र हैं:—

“Bodies with their visible properties are the peculiar subjects of painting.....actions are the peculiar subjects of poetry,” and this because painting can only represent a single moment of time, while poetry, in describing bodies, must give in temporal sequence what has been received as a single-impression.....Art has nothing to do with sequence in time or juxtaposition in space. Painter and poet express, not the material detail of the practical world, but their own single states of mind. If the painter represents an action, he does not petrify one instant, as does the photograph of a moving person. He gives the whole movement, unifying in his representation a multitude of impressions. He gives, in fact, himself as

impressed by the action, his own mental representation of it.....” *

किसी काल के एक क्षण विशेष में एक ही स्थान में रखी हुई परस्पर-सम्बद्ध वस्तुओं का रेखांकन ही चित्र स्काट जेम्स के विचार है और निरन्तर काम-क्रम में लक्षित वस्तुओं का चित्रण ही कविता । चित्र और कविता के इस भेद से उनके क्षेत्र की सीमा का भी अब कुछ अनुमान हो जाता है । प्रसिद्ध अंग्रेज साहित्य-समीक्षक स्काट जेम्स (R. A. Scott James) ने इस मत को स्वीकार करके काव्य और चित्रकला के सिद्धान्तों में भिन्नता मानी है । उनका कहना है कि उन दोनों के क्षेत्रों की भिन्नता भावना और प्रातिभ ज्ञान (Feeling and intuition) के विचारों से निर्धारित नहीं की जा सकती किन्तु अभिव्यक्ति के मोटे हिसाब से तो वे दोनों जरूर ही भिन्न हैं । दोनों कलाकार निःसन्देह एक दूसरे के उपकरणों का बहुत कुछ आपस में उपयोग कर सकते हैं पर वे कला के माध्यम को तो अपना ही नहीं सकते । वे अपने अपने माध्यम के नियमों से बँधे रहते हैं । यदि उनमें से कोई अपने माध्यम की सीमा को नाजायज तरीके से लाँघता है तो इसका जिम्मेदार वही है—

“Lessing was right when he showed why the laws of poetry are not the laws of painting. It may be that the separate province of each can not be defined in terms of feeling or intuition. But in terms of expression, yes. A practitioner in one art may doubtless borrow much that belongs more obviously to another; but he can not borrow his medium; by the medium he uses he is bound. He defies its limitations at his peril.”

R. A. Scott-James.....“The Making of Literature”

* “The Making of Literature” by R. A. Scott-James

उपर्युक्त समीक्षकों के विचारों से परिचित हो कर अब हम पुनः इस विषय में आचार्य्य शुक्ल जी के विचारों पं० रामचन्द्र शुक्ल चित्र का अध्ययन करेंगे। शुक्ल जी ने शब्द-चित्र और कविता में अन्तर और वर्ण-चित्र में विशेष अन्तर नहीं माना नहीं मानते हैं। इसका प्रमाण उनके “काव्य में प्राकृतिक दृश्य” नामक लेख में वाल्मीकि के प्रसंग में आया यह कथन पर्याप्त है— “और इधर के कवियों ने जहाँ परम्परा-पालन के लिए ऐसे चित्र खींचे भी हैं, वहाँ वे पूर्ण चित्र क्या, चित्र भी नहीं हुए हैं..... चित्रकला के प्रयोगों द्वारा इस बात की परीक्षा हो सकती है.....वाल्मीकि के वर्ण-वर्णन को लीजिए, और जो जो वस्तुएँ आती जायँ, उनकी आकृति ऐसी सावधानी से अंकित करते चलिए कि कोई वस्तु छूटने न पावे × × ×” तात्पर्य्य यह कि शुक्ल जी बाह्य-प्रकृति का चित्रण ठीक वैसा ही चाहते हैं जैसा कि एक चित्रकार का। सम्भव है, कई विद्वान् शुक्ल जी के इस मत से सहमत न हों क्योंकि पिछले पृष्ठों में हम शब्द-चित्र (कविता) और वर्ण-चित्र में आलोचकों द्वारा निरूपित भेद लक्षित करा चुके हैं। प्रकृति का चित्रण यथातथ्य ही होना चाहिए अथवा कुछ काट-छाँट के साथ— यह प्रश्न विवादास्पद है। तो भी शुक्ल जी के विचारों की विस्तृत मीमांसा करना आवश्यक है। हम उनके इस उदाहरण को पुनः दुहराते हैं—“काव्य में कवि का लक्ष्य ‘बिम्ब-ग्रहण’ कराने का रहता है, केवल ‘अर्थ-ग्रहण’ कराने का नहीं। वस्तुओं के रूप और आसपास की परिस्थिति का ब्यौरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण ‘बिम्ब-ग्रहण’ होगा, और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा।” इस उद्धरण में शुक्ल जी ने ‘बिम्ब-ग्रहण’ ही कवि का लक्ष्य माना है। इसके लिए कवि को आलम्बन का विशद वर्णन करना पड़ता है। “मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव

(भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ” — (पं० रामचन्द्र शुक्ल) । इस मत के अनुसार भी, उनकी दृष्टि में, चित्रकला और काव्य में अभेद स्पष्ट है । यहां तक उनका मत सर्वमान्य है । किन्तु उमी लेख में आगे चल कर वे लिखते हैं — “इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य वर्णन-मात्र को, चाहे कवि उसमें अपने हर्ष आदि का कुछ भी वर्णन न करे, हम काव्य कह सकते हैं” । इस मत की सम्यक् विवेचना आवश्यक है ।

फोटोग्राफ़, चित्रकार और कवि में अन्तर है । फोटोग्राफ़र अपने यन्त्र के द्वारा किसी दृश्य को, अपनी अनुभूति फोटोग्राफ़र चित्रकार के योग के बिना, कागज पर उतार लेता है । और कवि इसमें उसके हृदय का तनिक भी उपयोग नहीं होता । चित्रकार उमी स्थिर दृश्य का अनुकरण (Imitation) तो करता है किन्तु अपने हृदय का भी योग दे कर । पर इन दोनों से कवि इस दृष्टि से श्रेष्ठ है कि वह उन दोनों की तरह दृश्य की केवल नक़ल ही नहीं करता किन्तु अपने हृदय की मधुरता के योग से उस दृश्य को भी एक विशेषता प्रदान करता है । अपने हृदय की तत्कालीन दशा में ही वह दृश्य को रंगा हुआ देखता है । काव्य अभिव्यक्ति है, वह हृदय की वस्तु है, अतः जहाँ हृदय के योग की प्रधानता नहीं रहेगी वहाँ वह शुद्ध काव्य नहीं कहला सकता ।*

* कविवर खेन्द्रनाथ ठाकुर के विचार भी यहा दृश्य हैं । वे लिखते हैं:—

“If you ask me to draw some particular tree, and I am no artist, I try to copy every detail, lest I should otherwise lose the peculiarity of the tree, forgetting that the peculiarity is not the personality. But when the true artist comes, he overlooks all details and gets into the essential characterization. Our rational man also seeks to simplify things into their principle; to get rid of the details; to get to the heart of things where things are one. × × ×

(See next page)

तात्पर्य यह कि कवि, फोटोग्राफर और चित्रकार से उच्च कोटि का कलाकार है अतः हम उसे केवल किसी दृश्य का अनुकरण मात्र करता हुआ पा कर ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते। शुक्ल जी कवि को 'भाव-योगी' समझते हैं अतः कवि के लिए समस्त जगत् भाव-मय ही है। जब कवि किसी विशेष दृश्य का चित्रण करने बैठेगा तब वह उस दृश्य को अपनी तत्कालीन मानसिक दशा में ही देखेगा और हृदय के भावों की व्यंजना भी साथ ही साथ करता जायगा। अन्यथा उसके इस परिश्रम में रस ही क्या रहेगा? फिर फोटोग्राफर और चित्रकार तथा कवि में अन्तर ही क्या रह जायगा? अतः यदि कवि का आसन शेष दोनों से उच्च है तो हम कवि से अवश्य ही उसके हर्ष आदि के उद्गारों की व्यंजना की आशा रखते हुए उसे केवल किसी दृश्य की नक़ल मात्र करते देखने से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते। वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) ने भी अपने कविकर्म (Requirements of the poet) नामक लेख में निरीक्षण और वर्णन को प्रधान माना है किन्तु आगे चलकर उन्होंने संशोधन और परिवर्द्धन आदि को भी दृश्य-चित्रण का एक अंग माना है—

“Fourthly, Imagination and Fancy,—
वर्ड्सवर्थ, शेली to modify, to create and to associate.”
और अरबक्रॉम्बे —Wordsworth (Requirements of the poet)
के विचार अर्थात्—परिशोधन, कल्पनानुकूल नव निर्माण
 और सम्बन्ध स्थापन भी आवश्यक कवि कर्म है।

(Continued from page No. 23)

It is the function of the artist to particularize that one tree. How does he do it? Not through the peculiarity which is the discord of the unique, but through the personality which is harmony. Therefore he has to find out the inner concordance of that one thing with its outer surroundings of all things”.

—Personality (1948) : Page 23-24

शेली (P. B. Shelly) ने भी वस्तुओं के गम्भीर निरीक्षण के साथ ही भाव-व्यंजना को भी स्थान दिया है—

“In a word, the good which exists in the relation subsisting, first between existence and perception and secondly, between perception and expression.”

.....Shelley : (Defence of poetry)*

अबर क्रोम्बे ने भी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अपने दृश्य चित्रण को भाव-व्यंजना के बिना कविता नहीं माना—

“The experience.....must be whole and entire, both what I saw and what I felt.”

Abercrombie (Principles of criticism)

किन्तु शुक्ल जी के अनुसार दृश्य-चित्रण में कवि के लिए अपनी आलोचनात्मक स्वतन्त्र व्याख्या, आल्हाद, विपाद, हर्ष आदि किसी की भी व्यंजना करना आवश्यक नहीं। अपने इस मत की पुष्टि में शुक्ल जी लिखते हैं—

“जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलम्बन होती है, उसका शब्द-चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया, तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह ‘आश्रय’ की भी कल्पना करके उसे वह उस भाव का अनुभव करता हुआ, हर्ष से नाचता हुआ या विपाद से रोता हुआ दिखावे।”

अब पाठक की दृष्टि से भी थोड़ा विचार करना चाहिए। रस की

स्थिति पाठक अथवा श्रोता में मानी जाती

पाठक की दृष्टि से है। कवि में विधायक कल्पना (Creative

imagination) अपेक्षित है और पाठक में

ग्राहक कल्पना। (Receptive imagination) पाठक में यह ग्राहक कल्पना क्यों मानी गई ? केवल इसीलिए कि पाठक भी रसानुभूति में अपनी ओर से कुछ योग दे। सब काम कवि पर ही नहीं

छोड़ा जा सकता। पाठक में भी इस कल्पना कि आवश्यकता इसलिए मानी गई कि कवि जहाँ जहाँ अनावश्यक व्यौरे छोड़ता चलता है वहाँ वहाँ पाठक चित्र पूरा करने के लिए अपनी ओर से भी कल्पना का योग देकर चित्र पूरा करता चले। यहाँ हमें इस बात का भी संकेत मिल जाता है कि कवि को दृश्य के आवश्यक व्यौरों का ही पूरा पूरा चित्रण करना चाहिए; शेष व्यौरों को, पाठक की कल्पना पर विश्वास रख कर, छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से पाठक की कल्पना को भी व्यायाम मिलेगा। यदि पाठक काव्य के प्रत्येक व्यौरे को निष्क्रिय होकर ग्रहण करता चलेगा और उसकी कल्पना भी रस-प्रतीति के लिए अपनी ओर से सक्रिय अथवा प्रयत्नशील न रहेगी तो उसे काव्य का पूरा पूरा आनन्द मिल ही न सकेगा। तात्पर्य यह कि दृश्य-चित्रण में कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह वर्ण्य-वस्तु अथवा दृश्य के आवश्यक व्यौरों का यथातथ्य, विशद और संश्लिष्ट चित्रण करता हुआ पाठक की कल्पना के व्यायाम के लिए भी अवसर छोड़ता चले तथा आवश्यकतानुसार अपने भावों की व्यंजना भी करता चले। ऊपर शैली अवक्राम्बे आदि के विचारों द्वारा दृश्य-चित्रण में भाव व्यञ्जना का स्थान और महत्व बताया किया जा चुका है। शुक्ल जी ने भी आगे चल कर अंतःकरण की झलक दिखाना कुछ मान ही लिया है।

दृश्य के गम्भीर निरीक्षण से, सर्व प्रथम, कवि की कल्पना जागृत होगी और शनैः शनैः वह अप्रस्तुत अथवा दृश्य चित्रण में परिवर्तन परोक्ष रूपों की योजना में प्रवृत्त होगी।
 अथवा संशोधन की प्रेरणा ऐसा होने से एक मनोवैज्ञानिक परिणाम यह होगा कि कवि के मन में, नए-नए रूपों के आने से, सामने दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं में भी, कल्पना में आए हुए अप्रस्तुत रूपों के अनुसार, कुछ परिवर्तन अथवा संशोधन की प्रेरणा होगी। कहने की आवश्यकता

नहीं कि इस परिवर्तन अथवा संशोधन से कवि के हृदय में एक विशेष प्रकार की तुष्टि होगी और वह अपने कवि-कर्म में अब और भी अधिक उत्साह से प्रवृत्त होगा। अपनी रचना द्वारा कवि को निम्नांकित रूपों में आनन्द मिलेगा:—

- १ कल्पना में आए हुए रूपों के अनुसार उस वस्तु-स्थिति अथवा दृश्य में भी अपनी ओर से थोड़ा परिवर्तन अथवा संशोधन करने की प्रेरणा से प्रसूत आनन्द ; अर्थात् , नव-निर्माण का आनन्द ;
- २ उस दृश्य के बाह्य रूप-रंग, भव्यता आदि से प्रभावित होकर विशुद्ध हर्ष आदि की व्यंजना से प्रसूत आनन्द ;
- ३ कवि की शिक्षा-दीक्षा, संस्कार, वातावरण आदि विशेष परिस्थितियों से प्रसूत अपनी किसी विशेष धारणा अथवा जीवन-दृष्टि का उस दृश्य पर आरोप करके उसका चित्रण करने से प्रसूत आनन्द ; और ,
- ४ अपने तत्कालीन हृद्गत भावों के रंग में प्रकृति को देखकर उसका चित्रण करने से प्रसूत आनन्द ।

इस प्रकार, ऊपर के सम्पूर्ण विवेचन के सार-रूप, यह कहा जा सकता है कि कवि किसी दृश्य-विशेष की कोरी नक़ल ही नहीं करता। अपने चित्रण में वह संशोधन-परिवर्द्धन, भाव-व्यंजना आदि का भी पर्याप्त समावेश करेगा। अवरक्रॉम्बे ने इसीलिए विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों का समन्वय कर दिया है।*

* वड्सवर्थ ने दृश्य-निर्वाचन और चित्रण पर अपना विवेचन यों दिया है :—

“The powers requisite for the production of poetry are :—

1. Observation and Description—The ability to observe with accuracy things as they are in themselves, and

(See next page)

दृश्य-चित्रण की सामान्य पद्धति

काव्य-मर्मज्ञों के उपर्युक्त विचारों के अनुसार काव्योपयोगी दृश्य-चित्रण की सामान्य पद्धति यही दिखाई पड़ती है कि कवि सौन्दर्य-दृष्टि का पूरा पूरा ध्यान रखते हुए आवश्यक संशोधन, समुचित परिवर्द्धन एवं कल्पना-रुचिर परिमार्जन के साथ, पाठक की कल्पना के व्यायाम का अवसर छोड़ कर दृश्य-चित्रण करे। यदि दृश्य स्वभावतः ही मनोहर हो एवं परिवर्तन-सापेक्ष न हो तो उसका यथार्थ अथवा यथातथ्य चित्रण किया जा सकता है। “किसी वस्तु का वर्णन जितनी ही अधिक वस्तुओं के सम्बन्ध को लिए हुए होगा, उतना ही वह पेचीला होगा, और कवि के निरीक्षण की सूक्ष्मता प्रकट करेगा” (आचार्य्य शुक्ल)। किन्तु कभी कभी बहुत कम व्यौरों में भी चित्र का पूर्ण सौन्दर्य लक्षित हो जाता है। अजन्ता के कलामंडप में, एक राजा को अपने एक जहाज के किसी विदेशी समुद्र में डूब जाने की सूचना देने आने वाले व्यक्ति के अत्यन्त स्थूल रेखा-चित्र से उसके हृदय के घोर दुःख को नेत्रों और हाथों की मुद्रा में अत्यन्त मार्मिकता के साथ व्यंजित किया गया है। चीनी चित्र-कला में पीछे, बहुत दूर तक केवल आकाश की पृष्ठभूमि (Background) देकर, किसी वृक्ष की झुकी हुई

(Continued from page No. 27)

with fidelity to describe them, unmodified by any passion or feeling existing in the mind of the describer : whether the things depicted be actually present to the senses, or have a place only in the memory.

1. Sensibility. 3. Reflection. 4. Imagination and Fancy,—to modify, to create and associate. 5. Invention, and 6. Judgment, to decide how and where, and in what degree, each of these faculties ought to be exerted.....”

(From Preface to the Lyrical Ballads, 1815 Edition.)

डाल का अग्रिम भाग-मात्र या उसकी कुछ पत्तियां भर दिखा देते हैं और यह अत्यन्त प्रभावोत्पादक (Appealing) प्रमाणित हुआ है। यदि यह कहा जाय कि “माघ की एक पहर रात्रि बीत चुकी है, गम्भीर निस्तब्ध शांति में कुहरे की धूमिल चाँदनी फैली है, नदी के जल-विस्तार पर कुछ ही दूरी पर एक बहुत बड़ी पाल वाली नाव धुंधली सी दिखाई दे रही है और तट-वर्ती झाड़ियों में झींगुर भंकार रहे हैं।” तो यह एक भरा-पूरा चित्र होगा। पर बिना किसी विस्तृत व्यौरे के थोड़े से शब्दों में प्रतीक-पद्धति से चित्र अंकित कर देने से भी काव्य का प्रकृत स्वरूप संघटित किया जा सकता है। अतः चित्र दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं।

प्रकृति का चित्रण करने में सौन्दर्य-बुद्धि-विवेक, (Sense of beauty) अनुपात-बुद्धि-विवेक (Sense of proportion) तथा चयन-बुद्धि-विवेक (Sense of selection) का ध्यान रखना आवश्यक है। इसके लिए प्रस्तुत दृश्य में कवि को बहुत-कुछ काट-छाँट करनी पड़ती है और तभी चित्र काव्योपयोगी होता है। हां, वस्तु-व्यापार सामान्य और स्वाभाविक हों; यह नहीं कि सामने जो कुछ भी दृष्टिगत हो रहा हो, सब का चित्रण कर दिया जाए। वस्तुओं का परिगणन-मात्र भी बचाया जाय। चित्र ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि वह जुगुप्सा-व्यंजक हो अथवा सौन्दर्य-भावना को व्याघात पहुँचाता हो। (हां, धीरे यथार्थ-वाद के उपासक की तो बात ही दूसरी है। यों, बीभत्स रस भी एक स्वीकृत रस है।) उपर्युक्त दृष्टि पर ध्यान न रख सकने से अति निकट दर्शिता या यथार्थ के आग्रह से चित्र के इस प्रकार का हो जाने का डर है:—

“संध्या का समय है । सामने बाईस वृक्ष खड़े हैं पर आगे के वृक्ष सुदूर धूमिल दिगन्त में लीन होने से गिनने में नहीं आते । आकाश में, सुनहली किरणों से रञ्जित नीले-पीले बादल नीरव-निश्चल से खड़े हैं । बाई और नीम का एक वृक्ष खड़ा है जिसकी एक शाखा पर पक्षियों के पानी पीने के लिए मिट्टी का एक ढीबरा लटका हुआ है और कुछ दूरी पर एक फूटी हँडिया भी झँधी पड़ी है जिस पर कुछ मिट्टी पुती हुई है । पीछे से बैलगाड़ी के चलते हुए बैलों की घण्टी की आवाज और पहियों की घर्-घर्-ध्वनि आ रही है । अब अरहर के खेतों के बीच की पगडंडी से निकल कर आता हुआ एक ग्रामीण दिखाई दे रहा है जिसके हाथ में एक मिट्टी के तेल की बोतल है । ऊपर आकाश में पक्षी चहचहा रहे हैं । विजन प्रान्त की नीरवता अत्यन्त मधुर है । मैं इस ऊँचे टीले पर बैठा हूँ । अब समय बहुत हो गया है, पेन्सिल भी टूट गई है, चलना चाहिए ।”

ऊपर का दृश्य-वर्णन और भाव-व्यंजना है तो यथातथ्य और स्वाभाविक, किन्तु यह चित्र काव्योपयोगी होगा, इसमें सन्देह ही है । यह चित्र काव्योपयोगी नहीं क्योंकि ऐसा ज्यौरा फोटो में ही आता है, काव्य में नहीं । इसका काव्योपयोगी अंश इतना ही होगा—

“संध्याकालीन सूर्य की स्वर्ण-रश्मियों से पीले पड़े हुए शान्तिपूर्ण निर्जन वनस्थली के खत, वृक्ष, पौदे इत्यादि अत्यन्त सुन्दर लग रहे हैं और सुदूर पश्चिम दिगन्त की तरुमाला के पीछे अस्त होते सूर्य की किरणों से चुम्बित बादल निश्चल हो कर सो रहे हैं । पक्षी चहचहा रहे हैं । वन-पथ से जाती हुई बैलगाड़ी की घटियों की मञ्जुल ध्वनि और पहियों की घर् घर् आवाज वनस्थली की शांति को और भी गम्भीर बना रही है ।” कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त चित्र पिछले विवरण का परिमार्जित काव्योचित रूप है ।

अन्त में उपर्युक्त सब विवाद का अन्त यों कह कर किया जा

सकता है कि काव्य में दृश्य-चित्रण की दो सामान्य प्रणालियाँ होती हैं। एक में कवि अपने हर्ष शोक आदि की दृश्य-चित्रण की दोनों कोई व्यंजना न करता हुआ वस्तुओं का प्रणालियाँ मान्य यथातथ्य, संश्लिष्ट चित्रण करता है, और दूसरी में कवि दृश्य-चित्रण के साथ उसके प्रति हृदय में उठे भाव की भी व्यंजना करता चलता है। दोनों ही पद्धतियों में कवि का पूर्ण कौशल झलकता है। “दोनों की सत्ता पृथक् पृथक् है। दोनों की योजना अलग अलग दृष्टियों से की जाती है। आलम्बन-स्वरूप संश्लिष्ट चित्रण में कवि प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अपना अनुराग सीधी तौर से प्रकट कर देता है। इसी अनुराग के कारण उसकी दृष्टि छोटे से छोटे व्यौरे की ओर जाती है।”

अब हम भारतीय आचार्यों की प्रकृति-दृष्टि गृहीत किये जाने पर विचार करेंगे और तत्पश्चात् यह भी देखेंगे कि प्रकृति-वर्णन में रस होता है कि नहीं।

✓ प्रकृति-वर्णन पर भारतीय आचार्यों की दृष्टि

हमारे प्राचीन आचार्यों ने वन, उपवन, ऋतु आदि शृंगार के ‘उद्दीपन’ मात्र माने हैं। उनकी दृष्टि में ये परम्परागत दृष्टिकोण नायक या नायिका को हँसाने या रुलाने के लिए हैं।” और इनका संश्लिष्ट चित्रण करके श्रोता को ‘विम्ब-ग्रहण’ कराने से कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु शुक्ल जी का विचार इससे भिन्न है। अपने मत के समर्थन के लिए वे वाल्मीकि कालिदास आदि के वर्णन प्रस्तुत करते हैं क्योंकि उपर्युक्त कवियों के वे वर्णन आलम्बन की दृष्टि से ही हुए हैं और उनसे उन कवियों की गम्भीर प्रकृति-निरीक्षण की क्षमता लक्षित होती है।

आचार्यों के अनुसार प्रकृति-वर्णन में किस प्रकार रस नहीं होता इसका आधार अथवा तर्क-भूमि कुछ इस प्रकार है। रस-सिद्धान्त के

अनुसार अचेतनत्व के प्रति निश्चिति का भाव रस-रूप में परिणत नहीं हो सकता । देव-विषयक रति रस-रूप में परिणत हो सकती है या नहीं और वह भक्ति-रस का स्थायी भाव हो सकती है या नहीं, इसका आचार्यों ने युक्तियुक्त उत्तर दिया है । मन के अनुकूल जो स्वतः बिना किसी प्रेरणा के प्रवृत्ति होती है उसे रति कहते हैं । अकेली वह स्थायी भाव होकर रस-रूप में परिणत नहीं हो सकती । इष्टदेव परोक्ष हैं । भावना में ही वे प्रत्यक्ष रहते हैं । देवताओं के विषय में परोक्षत्व का हमें निश्चय है अतः उनके विषय में हमारा रतिभाव और भक्ति-भाव होगा । उनकी कल्पना हम मन से ही कर सकते हैं, उन्हें हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते । उनके प्रति हमारी प्रत्येक चेष्टा काल्पनिक ही होगी । देवता के प्रति हमारे हृदय में अनुभूति तो होगी पर हृदय में कोई संस्कार नहीं होगा क्योंकि उनका हमें कोई चाक्षुष अथवा इन्द्रियज ज्ञान नहीं है । भावना में हम उनका आह्वान कर सकते हैं और कल्पना में उनका कोई रूप भी खड़ा कर सकते हैं किन्तु बिना किसी पूर्व-प्रत्यक्ष अथवा साक्षात्कार के हमारे मन में उनके प्रति कोई संस्कार नहीं होगा । इसलिए हमारा उनके साथ तादात्म्य भी नहीं होगा और न पूरा-पूरा साधारणीकरण ही होगा । प्रत्यक्ष अनुभव, अनुमान आदि के बिना संस्कार नहीं होता और बिना संस्कार के रस की अनुभूति नहीं हो सकती । किंतु राम प्रत्यक्ष थे । उनकी प्रत्यक्षता का हमें आप्त वाक्य या शास्त्र-प्रमाण से निश्चय है, देवताओं का नहीं । वाल्मीकि के वर्णन के आधार पर हमें राम की प्रत्यक्षता का ज्ञान होता है क्योंकि वे समकालीन ही थे ऐसा माना जाता है । जब राम की वीरता का वर्णन हम किसी काव्य में पढ़ते हैं तो उनकी प्रत्यक्षता की निश्चिति के आधार-स्वरूप उनके प्रति हमारे संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं तथा वे हमें प्रत्यक्ष से लगते हैं, इसीलिए उनके साथ हम उस काव्य द्वारा तादात्म्य का पूर्ण अनुभव करते हैं और हमें रस की अनुभूति होती है । साधारणीकरण पूरा

होने से ही रसानुभूति होती है । किसी को कोई बात संस्कार के कारण ही पसन्द आती है । यह संस्कार जन्मांतरीण भी हो सकता है और इस जन्म का भी । कविता समर्थ हो और आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन आदि का उसमें विधान हो तो हमारे हृदय की रति अवश्य ही रस-रूप में परिणत हो जायगी । राम का उत्साह और रति हमारा ही उत्साह और रति हो जाती है । इसी से हमारा उनसे तादात्म्य हो जाता है और पूरा साधारणीकरण होता है ।

स्थायी भाव का संस्कार मन में रहना चाहिए । संस्कार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रत्यक्ष का ही होता है, परोक्ष का नहीं । देवता परोक्ष हैं, अतः उनके प्रति उत्पन्न हुआ भाव रस-रूप में नहीं पहुँच सकता । भाव ही तीव्र होकर रस-सामग्री से परिपुष्ट होकर रस हो जाता है किंतु देवता के परोक्ष होने से भाव की तीव्रता में बाधा पड़ती है । अतः देवता-विषयक रति भाव मात्र है, रस नहीं । देवता-विषयक रति में कोई उद्दीपन अनुभाव आदि का विधान भी नहीं होगा अतः भाव-पोषक सामग्री के करने के अभाव में वह रस-कोटि तक नहीं पहुँच सकती । संचारी भाव भी रसानुभूति में अत्यन्त सहायक होते हैं । 'रत्नाकर' के 'उद्धवशतक' में संचारी भावों की शक्ति की तीव्रता का पूरा आनन्द मिलता है । केवल संचारी भाव में भी रसानुभूति की शक्ति होती है । देवता-विषयक रति में इन सबका विधान न होने से वह भाव ही कहलायगी, रस नहीं ।

दूसरी बात यह है कि देवता की ओर से कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता । जब तक आश्रय और आलम्बन दोनों के बीच समुचित भाव-विनिमय न हो तब तक उस भाव की परिपुष्टि नहीं हो सकती । दुष्यन्त और शकुन्तला के बीच प्रेम-भाव का दोनों को परस्पर निश्चय हो जाने पर ही उनमें प्रेम की प्रतिष्ठा हुई और रसानुभूति का मार्ग खुला । इस निश्चय का पूर्ण ज्ञान न होने तक भाव रस-संज्ञा तक

नहीं जा सकता । अतः देवता के पक्ष में प्रत्युत्तर (response) और आश्रय अथवा कवि के पक्ष में संस्कार न होने से रसानुभूति असम्भव है, भावानुभूति चाहे हो ।

यही बात प्रकृति के विषय में भी लागू होती है । भारतीय चिन्ता में प्रकृति जड़ है । हम चाहे यों कह दें कि फूल, पेड़, पौदे इत्यादि में हम सन्देश सुनते हैं पर वास्तव में वे बोलते नहीं । यह तो हमारी भावना और कल्पना के द्वारा उन पर किया गया आरोप मात्र है । प्रकृति के प्रति हमारे हृदय में संस्कार भले ही हों किन्तु उसके जड़ होने के कारण कोई प्रत्युत्तर उसकी ओर से हमें नहीं मिलता । इसके बिना रसानुभूति असम्भव है । प्रकृति के प्रति प्रेम उसमें अचेतनत्व होने के कारण, वह तीव्रता नहीं प्राप्त करता कि उसके प्रति उद्बुद्ध भाव रस कोटि को पहुँच सके । अतः प्रकृति के प्रति प्रेम केवल भाव ही होगा, रस नहीं । अचेतनत्व और परोक्षत्व का निश्चय होने के कारण भगवान् भरत मुनि तथा उनके बाद के आचार्यों ने भी देवता-विषयक रति को रस नहीं माना, भाव मात्र ही माना है । प्रकृति से भी प्रत्युत्तर नहीं मिलता अतः वह भी जड़ है । इसी जड़ता के कारण आश्रय व आलम्बन के बीच जीवित सम्पर्क स्थापित नहीं होता, भाव में तीव्रता नहीं आती और रसानुभूति नहीं होती ।

प्रकृति के संश्लिष्ट और विशद चित्रण में यदि ध्वनि है तो उसे हम वस्तु-ध्वनि ही कह सकते हैं, रस-ध्वनि नहीं क्योंकि प्रकृति स्वयमेव जड़ है । प्रकृति-वर्णन ध्वनि-काव्य तभी कहला सकता है जब कि उसमें रस-व्यंजना होगी ।

यह है प्राचीनों का मत । उपर्युक्त विवेचन से प्रकृति के प्रति आचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ होगा । वे तो प्रकृति-वर्णन में रस नहीं मानते किन्तु शुक्ल जी उसमें रस मानने के पक्ष में कुछ पुष्ट तर्क उपस्थित करते हैं । उनका विवेचन अत्यन्त पुष्ट आधार पर खड़ा है

अतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रकृति-वर्णन में 'रस' है या नहीं इस सम्बन्ध में अपना विनम्र निवेदन या सुझाव विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने से पूर्व आचार्य शुक्ल के विचारों से भली भाँति परिचित हो जाना आवश्यक है।

भारतीय आचार्यों ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही गृहीत किया है, आलम्बन रूप में नहीं। किन्तु पं० पं० रामचन्द्र शुक्ल के स्वतन्त्र विचार रामचन्द्र शुक्ल ने इस विषय में अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किए हैं और प्रकृति-वर्णन में 'रस' माना है। "काव्य में प्राकृतिक दृश्य" नामक लेख में उन्होंने वाल्मीकि कालिदास, भवभूति आदि के वर्णनों की ओर संकेत करके उन्हें शुद्ध आलम्बन की दृष्टि से वर्णित हुआ बताया है। वे लिखते हैं—“पर सोचने की बात है। क्या प्राचीन कवियों ने इनका वर्णन इसी रूप में (उद्दीपन) किया है? क्या विश्व-हृदय वाल्मीकि ने वनों और नदियों आदि का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है? क्या महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव के आरम्भ में ही हिमालय का जो विशद वर्णन किया है, वह केवल गृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से? कभी नहीं। ये वर्णन पहले तो प्रसंग-प्राप्त हैं, अर्थात् आलम्बन की परिस्थिति को अंकित करने वाले हैं। इनके बिना आश्रय और आलम्बन शून्य में खड़े मालूम होते हैं.....”

“.....पर प्राकृतिक वर्णन केवल अंग-रूप से ही हमारे भावों के आलम्बन नहीं हैं, स्वतन्त्र रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे, और अब भी मनुष्य-जाति का अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेमभाव, पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अंतःकरण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में

प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है, वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है...”

प्रकृति-वर्णन में रस क्यों नहीं माना गया, इसका कारण शुक्ल जी आगे बतलाते हैं—“गीति-ग्रंथों की वदौलत रस-दृष्टि परिमित हो जाने से उसके गंयोजक विषयों में से कुछ तो ‘उद्दीपन’ में डाल दिए गये और कुछ ‘भावक्षेत्र’ से ही निकाले जा कर ‘अलंकार’ के हाते में हाँक दिए गये। इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन ‘स्वभावोक्ति अलंकार’ हो गया।” प्रकृति के प्रेम की स्वाभाविकता पर वे लिखते हैं—“मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक संबन्ध का विच्छेद करने से, अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक-रूपात्मक क्षेत्र मिला है, उसी प्रकार “भावों” (मन केवेगों) की व्याप्ति के लिए भी। अब यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा, तो उसका आनन्द पशुओं के आनन्द से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। अतः यह सिद्ध हुआ कि वन, पर्वत, नदी, निर्भर, पशु, पक्षी, खेती-बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है, या कम से कम वासना के रूप में अन्तःकरण में निहित है।”.....“चमत्कारवादियों की यह समझ ठीक नहीं कि जहाँ असाधारणत्व होता है, वहीं रस का परिपाक होता है, अन्यत्र नहीं।”

“प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है—(१) सुन्दर रूप के अनुभव द्वारा, और (२) साहचर्य द्वारा। सुन्दर रूप के आधार पर जो प्रेम भाव या लोभ प्रतिष्ठित होता है, उसका हेतु संलक्ष्य होता है; और, जो केवल साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित और पल्लवित होता है,

वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान-शून्य होता है.....यह प्रेम रूप-सौन्दर्य-गत नहीं है; सच्चा, स्वाभाविक और हेतु-ज्ञान-शून्य प्रेम है। इस प्रेम को रूप-सौन्दर्य-गत प्रेम नहीं पहुँच सकता।” अन्त में निष्कर्ष-स्वरूप उन्होंने लिखा है—“मैं समझता हूँ, अब यह दिखाने के लिए और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्भर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं, उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण वर्तमान है।”

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि आचार्य्य शुक्ल जी प्रकृति को स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में लेकर उसके वर्णन में रस मानते हैं। अपने इस मत के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर प्राकृतिक-दृश्यों का आलम्बन रूप में वर्णन करने पर बहुत जोर दिया। वे अपने इस मत पर अटल रहे और प्रकृति का स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में वर्णन करने की टेक उन्होंने न छोड़ी। प्रकृति-वर्णन में रस माने जाने के पक्ष में उनके जितने तर्क हैं वे अत्यन्त पुष्ट आधार पर स्थित हैं अतः हम आचार्य्य शुक्ल जी के पक्ष को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान देगे चाहे उन्होंने फिर प्राचीन आचार्य्यों के प्रति पूज्य-बुद्धि अथवा श्रद्धा का भाव रख के ही आलम्बन के वर्णन द्वारा ‘रसानुभव’ ही लाचार हो कर क्यों न मान लिया हो ! उन्होंने अन्त में यही कहा कि “मैं आलम्बन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।” जो हो, यह मानना पड़ेगा कि शुक्ल जी प्रकृति-वर्णन में रस की स्थिति पर सांगोपांग व मौलिक विचार करने वाले आलोचकों में कदाचित् प्रथम भारतीय आलोचक हैं जिन्होंने रस के क्षेत्र में एक युगान्तरकारी विचारधारा प्रकट की है।

/ शुक्ल जी की प्रकृति-दृष्टि

अब तक तो ऊपर शुक्ल जी का प्रकृति के प्रति तर्कसम्मत शास्त्रीय

विवेचन हुआ। अब हम थोड़ा, उनके हृदय-पक्ष से भी, प्रकृति को देखेंगे। हिन्दी साहित्य में संभवतः शुक्ल जी ही पहले कवि हैं जिन्होंने प्राचीन कवियों की तरह प्रकृति का स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में विशद चित्रण किया। इस दृष्टि से उनकी प्रकृति-दृष्टि पर भी कुछ लिखना आवश्यक है।

हृदय और बुद्धि का जैसा समन्वय हमें शुक्ल जी में मिलता है वह पूर्ण श्लाघ्य है। उनके गम्भीर विचारात्मक लेखों में उनका बुद्धि-पक्ष ही प्रबल दिखाई पड़ता है किन्तु उनमें भी स्थान स्थान पर उन्होंने मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के नाना रूपों के प्रति जो अपना गूढ़ अनुराग व्यंजित किया है उससे उनका सूक्ष्म और विस्तृत प्रकृति—पर्यवेक्षण लक्षित होता है। प्रकृति के प्रति उनके इस अनुराग का प्रमाण हमें इसी से मिल जाता है कि उन्होंने प्रकृति-वर्णन में, अपनी बौद्धिक प्रतिभा और सहृदयता के बल से, रसानुभूति मानी थी। हमारे चतुर्दिक फैले रूप-व्यापारों की साधारणता और असाधारणता—दोनों ही उन्हें रस-मग्न करती थीं। प्रकृति के प्रति शुक्ल जी की सी निश्छल अनुराग और मोद भरी दृष्टि हिन्दी साहित्य में, कुछ अन्य प्रतिभा-सम्पन्न कवियों को छोड़कर, और किसी को न मिली। साहित्य में प्रकृति का वर्णन वे उसी पद्धति पर चाहते थे जैसा कि प्राचीन संस्कृत कवियों ने किया था। इसमें वे वाल्मीकि, कालिदास भवभूति तथा अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ आदि को आदर्श मानते थे। वे प्रकृति की इनी गिनी, रंगीन और भड़कीली चीजों का ही नाम लेकर सन्तुष्ट होने वालों में से नहीं थे। वे प्रकृति के सच्चे उपासक थे। कँकरीले टीलों, ऊसर पटपटों, पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ किनारों, बबूल-करौंदे के भाड़ों पेड़-पौदों, पशु-पक्षियों, नदी नालों, पर्वत मैदानों, जंगलों, कछारों, खेतों, खेतों की नालियों, घास के बीच की ढुरियों, हल-बैलों, भोंपड़ों और श्रम में लगे हुए किसानों आदि सभी रूपों में शुक्ल जी की भावना

रसमग्न हुई है। शुक्ल जी के हृदय का प्रकृति से पूरा पूरा तादात्म्य हुआ। प्राचीन वन्य-जीवन और सरल-स्वाभाविक शांतिपूर्ण जीवन-पद्धति को खो कर, आधुनिक बुद्धि-प्रधान सभ्यता के बीच मनुष्य की जो दुर्दशा हुई है इस पर शुक्ल जी अत्यन्त दुखी हुए हैं।

वे लिखते हैं—“हम पेड़, पौदे और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़ कर नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रख कर एक घेरे में बन्द करते हैं, और कभी मन-बहलाव को उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों में सुख से सोते हैं। गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ म्याऊँ करके मांगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वामुदेव जी कभी कभी दीवार फोड़ कर निकल पड़ते हैं।” आगे चलिए, आज के कर्म-व्यग्र जीवन में, कोलाहलपूर्ण जनाकीर्ण नगरों में भी शुक्ल जी की प्रकृति दृष्टि कैसी सुरक्षित है—“बरसात के दिनों में जब सुर्खी—चूने की कड़ाई की पर्वा न करके हरी हरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है, तब मुझे उनके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढती हुई आती है, और कहती है कि तुम मुझ से क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो?” साहचर्य्य-भूत प्रेम के प्रभाव से सामान्य सीधे सादे चिर-परिचित दृश्यों में शुक्ल जी को कितने साधुर्य्य की अनुभूति हुई है—“बाल्यकाल या कौमार्य्य अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मण्डली के साथ बैठा करते थे, चिड़चिड़ी बुढ़िया की जिस भोंपड़ी के पास से होकर हम आते जाते थे, उनकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन किया करती है। बुढ़ी की भोंपड़ी में न कोई चमक दमक थी और न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था; नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर चढ़े हुए सत्यानासी के नीलाभ-हरित कटीले

कटावदार पौदे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल सम्पुटों के बीच लाल लाल बिन्दियाँ झलकती थीं।”

अपने “काव्य में प्राकृतिक दृश्य” नामक लेख में वे एक स्थल पर लिखते हैं—“सीतल गुलाब जल भरी चहबच्चन में” बैठ हुए कवि जी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ में बैठकर जीभ निकाल निकाल हांपते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा जायगा। इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढ़े “गुलगुली गिल में, गलीचा” बिछाकर बैठे हुए स्वांग से धूप में खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव है। पुतलीघर में ऐंजिन चलाते हुए देसी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। विश्वास न हो, तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए।”

ऊपर के उदाहरणों से पता लगेगा कि शुक्ल जी के पास प्रकृति-दर्शन की एक अत्यन्त निर्मल और प्रकृत दृष्टि सुरक्षित है। यही सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि चतुर्दिक फैले सामान्य रूपों में भी हमें अद्भुत दीप्ति और अभिनव सौन्दर्य खोज देती है, “कुछ काल के लिए सभ्यता के कृत्रिम बन्धनों से मुक्त कर, हृदय को शुद्ध भूमि पर ले जाती है और व्यवहारिक जीवन के स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से हटाकर शेष-सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है।” हृदय का व्यापक प्रसार कराने वाली यह दृष्टि जिसे जितनी ही अधिक ममता और स्वाभाविकता के साथ प्राप्त है उतना ही वह मुक्त और सुखी है। जिस परम भावुक और रस सिक्त व्यक्तिकी दृष्टि, सत्यानासी के फूल और उनमें झलकती लाल बिन्दियों, सुखी-चूने को फोड़ कर निकलते हुए हरे पत्तों, तलैया के कीचड़ में बैठ कर जीभ निकाल कर हांपते हुए कुत्तों और धूप में खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्लियों में मधुर सौन्दर्य ढूँढ निकालती है वह, अपने गाँव के पास से बहने हुए नाले के किनारे उगने वाली झाड़ी या घास

तक का नाम आंखों में आंसू भर कर लेने वाले योरूपीय कवियों की दृष्टि से कम प्यारी नहीं है ।

नवीन दृष्टिकोण : प्रकृति-वर्णन में रस

यद्यपि प्राचीन भारतीय काव्य में प्रकृति का मानव-निरपेक्ष, स्वतन्त्र, प्रकृति-विषयक रति पर आधारित, संश्लिष्ट व रसात्मक वर्णन हुआ है जिसके आधार पर रस के शास्त्रीय ढांचे में ही रह कर 'प्रकृति-रस' की स्थापना सहज ही की जा सकती है किन्तु न जाने क्यों हमारे प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति को प्रायः श्रृंगार के उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण कर अपने कर्त्तव्य को इति-श्री मानली है । प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अनुशीलन तथा यूरोप के प्रकृति-बहुल काव्य के प्रभाव से बीसवीं शताब्दी के हिन्दी-काव्य में प्रकृति का इतना और ऐसा चित्रण हुआ है कि प्रकृति-वर्णन में रस है या नहीं—इस पर संतुलित दृष्टि से पक्षपात रहित सम्यक् विचार-विमर्श करने की पूरी पूरी आवश्यकता है । यह बात निश्चित है कि प्राचीन साहित्य में मुख्य दृष्टि मानव-जीवन पर ही थी (होनी भी चाहिए, सृष्टि में सब कुछ मानव की ही सुख-समृद्धि व विकास के लिए है !) मानव के चारों ओर जो प्रकृति-जगत् है वह अविद्या या माया का ही प्रसार समझा जाता था । परम्परागत भारतीय योग में ईश्वर की पुरुष के रूप में कल्पना की गई है और समस्त व्यक्त प्रसार की प्रकृति के रूप में । पुरुष प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र है । इस विचार-धारा के अनुसार भी प्रकृति प्रायः उपेक्षिता ही रही । भक्तिकालीन हिन्दी-कविता—विशेषतः ज्ञानाश्रयी—पर इसका पर्याप्त प्रभाव है । ऋग्वेद के क्रांतदर्शी स्वप्नदृष्टा कवि प्रकृति का दर्शन करके ईश्वर की रहस्यमयी भावना में डूब कर, उल्लसित होकर, ऋचाओं में फूट पड़े थे किन्तु वह स्वर फिर आगे कभी न सुनाई पड़ा । लौकिक साहित्य में कविता पुनः व्यक्त जीवन व जगत् तक ही सीमित रह कर मानव व उसके कर्म-चक्र तक ही सिमट गई ।

कविता में रहस्य-भावना का विकास नहीं हुआ। इतना ही नहीं जिज्ञासा व कौतूहल की स्वाभाविक व काव्योपयोगी भावना भी देखने को न मिली। फिर भी वाल्मीकि, कालिदास व भवभूति जैसे रससिद्ध प्रकृति-प्रेमी कवियों ने प्रकृति का भरपूर मौंदर्य देखा व उसका चित्रण किया। इन्होंने प्रकृति का आलम्बन, उद्दीपन व अलंकार रूप में ग्रहण कर उसका प्रचुर प्रयोग किया। उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य में कविता राजदरबारों की ही वस्तु रह गई। प्रकृति के मुक्त क्षेत्र में जाकर स्वयं उसका दर्शन करना प्रायः बंद हो गया अतः उसके प्रति स्वतन्त्र अनुराग बढ़ने का अवसर कहां था ! प्रकृति केवल उद्दीपन की ही वस्तु रह गई। आलंकारिकों ने वहां से उपमान मात्र ही ढूँढे। उपदेशक कवियों ने प्रकृति के दृश्य-चित्रण के माध्यम से उपदेश मात्र दिये। बस ! प्रकृति की दृष्टि से हिन्दी का वीरगाथा काल शून्य-सा है। भक्तिकाल में सगुणभक्ति-धारा की कृष्णभक्ति शाखा में नायक के प्रकृति से घनिष्ठतम रूप में सम्बद्ध रहने के कारण तथा निर्गुण-भक्ति धारा की प्रेमाश्रयी शाखा में रहस्य-भावना व विश्व-व्यापी अलौकिक प्रेम व्यंजना के हेतु प्रकृति का प्रचुर प्रयोग हुआ किन्तु रामभक्ति शाखा व कबीर की निर्गुण धारा में प्रकृति का अत्यल्प प्रयोग हुआ। रीति-काल में तो प्रकृति केवल उद्दीपन की वस्तु ही रही; भोगियों के सुख-दुःख की व्यंजना में परिचारिका की तरह। उसका उपयोग अलंकार-विधान व उपदेशात्मकता के लिए भी हुआ। किन्तु आधुनिक काल में प्रकृति का बहुमुखी व सर्वांगीण प्रयोग हुआ है और वे प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ी हैं जिनके स्वरूप पर विचार करके प्रकृति-वर्णन में रस की संभावना पर बाध्य होकर विचार करना ही पड़ता है। काव्य में प्रकृति के जितने भी उपयोग हैं उनके मूल में है प्रकृति के प्रति सहज स्वाभाविक व मौलिक प्रेम। कवि के इसी मौलिक प्रेम के कारण अन्य प्रकार के उपयोग सार्थक सबल व प्राणवान् होते हैं। अतः इस पर ध्यान रखकर ही इस सम्बन्ध में यथार्थ विचार हो सकता है।

प्रकृति पर भारतीयों की दो प्रकार की दार्शनिक दृष्टि रही है—
(१) प्रकृति माया है, पुरुष को बांधने वाली है। पुरुष उससे स्वतन्त्र रहता है। यह योग की दृष्टि है। वेदान्त में भी सृष्टि का सारा प्रसार माया है। शंकर का 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' प्रसिद्ध ही है। (२) प्रकृति ब्रह्म के नाते सत् है, चेतन है, और आनन्दपूर्ण है। यह दृष्टि वेदान्त की भी है और भक्ति की भी। प्रकृति में सर्वत्र ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। वेदान्त का प्रतिबिम्बवाद यही है। सब विचार-धाराओं का समन्वय करने वाले ग्रंथ गीता में सब पदार्थ जगत् को एक ही ब्रह्म-भावना में गुंफित व अनुस्यूत बताया है :—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं मूत्रे मणिगणा इव ॥

रसो हमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिपूर्ययोः ।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृपु ॥

—गीता, ७, ७-८

जहां जहां भी सत्त्व और श्री का दर्शन होता है वहाँ वहाँ उसी प्रभु का तेज प्रकाशित होता है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जित मेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशंसंभवम् ॥ —गीता १०।४१

उपनिषद् में सारे बाह्य प्रसार या प्रकृति को उसी ब्रह्म-भावना से ओत-प्रोत बताया गया है—

ओ३म् ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

—ईशोपनिषद्

शंकराचार्य ने बाह्य जगत् को माया ठहराकर निस्सार घोषित किया किन्तु भक्तिमार्ग के आचार्यों ने व्यक्त जगत् में प्रभु की मंगल कला का दर्शन किया। 'इस दृष्टि से शंकर व वल्लभ की धारणा में कितना पार्थक्य है, इसे लक्षित कराते हुए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (कृष्ण भक्ति शाखा) में लिखते हैं :—

“रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य हुए हैं सबका लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद और विवर्त्तवाद से पीछा छुड़ाना था जिनके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रान्ति ही ठहरती थी। शंकर ने केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। वल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा। अपने को अंश-रूप जीवों में बिखराना ब्रह्म की लीला मात्र है। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव-तिरोभाव की अचिंत्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। वह अपने सत् चित् और आनन्द, इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में सत् और चित् का आविर्भाव रहता है, पर आनन्द का तिरोभाव। जड़ में केवल सत् का आविर्भाव रहता है, चित् और आनन्द दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।”

तात्पर्य यह कि प्रकृति जड़ भी है और चेतन भी। यूरोप के दार्शनिकों में भी इसी प्रकार दो सम्प्रदाय रहे—(१) वैज्ञानिक—जो जड़ता का सिद्धान्त मानकर प्रकृति को आत्म-सत्ता-शून्य मानता है। (२) दार्शनिक—जो प्रकृति को आत्मा, ईश्वर व ब्रह्म-भावना से ओत-प्रोत मानता है। अरस्तू, बर्क, बेन, एलिसन, होगार्थ, रेनाल्ड्स, स्पेन्सर, डार्विन, डेविडह्यूम, रस्किन आदि की दृष्टि वस्तु-परक है और सुकरात, प्लेटो, प्लोटिनस, सेण्ट आगस्टाइन, बॉमगार्टन, विक्टर कूज्याँ, लिवेक, जाफ्राय, शेफ्ट्सबरी, रीड, शिलर, लोज़, हरबार्ट, शेलिंग, कांट, हेगल, शोपेनहावर आदि की आत्म-परक।

प्रकृति को केवल उद्दीपन ही मानना—मानव के सुख में सुखी और दुःख में दुखी ही बताना—मानव का घोर स्वार्थ है।

आत्मा की मूल एकता के नाते प्रकृति से हमारा घनिष्ठतम सम्बन्ध है । वह सम्बन्ध प्रेममूलक है और कविता में कवि का प्रकृत-विषयक प्रेम उसी सम्बन्ध की गहराई के अनुपात में प्रकट होता है । आचार्यों ने प्रकृति वर्णन में रस न मानकर प्रकृति का केवल श्रृंगार के उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण कर मानों वस्तु-परक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही प्रश्रय दिया है । किन्तु कविता व विज्ञान की दृष्टि में मौलिक अन्तर है । इस अन्तर को बा० गुलाबराय जी ने बहुत स्पष्टता के साथ दर्शाया है । “वैज्ञानिक मनुष्य को भी प्रकृति के धरातल पर घसीट लाता है और साहित्यिक प्रकृति को भी मानव के समकक्ष बना लेता है । × × × यह साहित्य के मानवी दृष्टिकोण को प्रमाणित करता है । साहित्य प्रकृति को मानवी धरातल पर ले आता है, और विज्ञान मनुष्य को भी प्रकृति के समतल घसीट लाता है । इतना ही नहीं, वरन् यह बात साहित्य की सहितता और समन्वय बुद्धि का परिचायक भी है ।” वास्तव में इस युग के कवि ने प्रकृति को मानवीयता प्रदान कर उसमें चेतना का आरोप किया है और उसके साथ अभूतपूर्व तादात्म्य अथवा आत्मीयता स्थापित की है । आज के ही कवि ने नहीं, प्राचीन और मध्यकाल के कवि ने भी तो यह किया है—

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकृतुं
 ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः ।
 अव्यापन्नः कुशलमवले पृच्छति त्वां वियुक्तः
 पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥

—मेघदूत (उत्तरमेघ, ३८)

मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?

विरह वियोग स्याम सुंदर के ठाढ़े कस न जरे !

—सूरदास

हे खग मृग, हे मधुकर श्रेणी । तुम देखी सीता मृग नैनी ॥

—‘मानस’

आप कहेंगे, चेतना का तो आरोप मात्र होता है, वस्तुतः प्रकृति जड़ ही है। उत्तर में निवेदन है कि प्रकृति को जड़ विज्ञान ही मानता है, काव्य नहीं। प्रकृति की ही क्या बात, विज्ञान तो फूल व मनुष्य दोनों को ही भौतिक परमाणुओं का संघात मात्र ही कहेगा !

स्वयं कालिदास तक कहते हैं—

धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः

संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।

—मेघदूत (पूर्वमेघ, '५)

पर काव्य का सारा व्यापार कल्पना व भाव के आधार पर चलता है। उसमें गणित या पदार्थ-विज्ञान की तरह वस्तु-सत्य उतना प्रधान नहीं होता जितना भाव-सत्य या कल्पना-सत्य।

कल्पना का सत्य कितना सत्य और मधुमय होता है—

आह कल्पना का यह सुंदर जगत मधुर कितना होता ।

सुख स्वप्नों का दल छाया में पुलकित हो जगता-सोता ॥

—‘कामायनी’

इसी तथ्य को आत्मसात् कर आधुनिक कवियों ने प्रकृति में चेतना की पूर्ण प्रतिष्ठा कर दी है और हाड़-मांस के व्यक्ति की ही तरह उसके साथ कल्पना-जगत् में जीवित आत्मिक सम्पर्क स्थापित कर लिया है।

सिंधु-सेज पर धराबधू अब,

तनिक संकुचित बैठी सी।

प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में,

मान किये सी, ऐंठी सी ॥

—‘प्रसाद’ (कामायनी)

फिर परियों के बच्चों से हम

सुभग सीप के पंख पसार,

समुद्र पैरते शुचि ज्योत्स्ना में,

पकड़ इन्दु के कर सुकुमार ।

—‘पंत’ (बादल)

मुसकाता संकेत—भरा नभ

अलि ! क्या प्रिय आने वाले हैं !

—महादेवी वर्मा (यामा)

प्रकृति मानव की सहचरी, मां, प्रिया और दासी है और वह मानव सुलभ आचरण करती है। इस दृष्टि से प्रकृति सचेतन है पर अब भी शायद आप कहेंगे कि प्रकृति के साथ कवि भाव-जगत् में चाहे आत्मियता स्थापित कर ले पर मधुर भाव वाले सम्बन्ध में कवि व प्रकृति के बीच नायक-नायिका की सी तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा कहाँ ? शृंगार रस में तो तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा से पूर्ण रस-निष्पत्ति होती है किन्तु वह यहाँ कहाँ ? पर, तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा में ही रस की निष्पत्ति क्यों मानी जाय ? क्या एकांगी प्रेम में रस की कल्पना नहीं की जा सकती ? सूफियों का सारा प्रेम एकांगी ही होता है पर क्या उसमें पूर्णता, तीव्रता व मार्मिकता नहीं होती ? क्या प्रेम प्रत्युत्तर के अभाव में प्रेम ही नहीं ? संभवतः वह प्रेम प्रत्युत्तर वाले प्रेम से कहीं अधिक मार्मिक, तीव्र, उदात्त, व सात्त्विक होता है। जीवन में एकांगी प्रेम में भी उच्च धरातलों पर पूर्ण तीव्रता देखी जाती है चाहे शास्त्रीय दृष्टि वाले आलोचक उसे 'रसाभास' की संज्ञा से ही क्यों न अभिहित करें। हमारा कहना यह कदापि नहीं कि तुल्यानुराग वाला प्रेम प्रेम नहीं। हमारा पक्ष तो केवल इतना ही है एकांगी प्रेम भी विशिष्ट दशाओं में प्रेम की सर्वोच्च भूमि पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है। इसलिए प्रकृति को जड़ या अचेतन कह कर, उसके सम्बन्ध को प्रत्युत्तर-रहित एकांगी व काल्पनिक प्रेम-सम्बन्धमात्र कह कर रस के प्रश्न को टाल नहीं सकते। 'प्रकृति-रस' मानने में शृंगार रस के 'रसराजत्व' पर कोई आँच नहीं आयेगी। 'वीभत्स' से लेकर 'भक्ति' तक का रसत्वं स्वीकार कर लिया गया है फिर मानव-हृदय की चिर सहचरी, आनन्द की मूलधारा, प्रेम और सौन्दर्य की निधि प्रकृति के वर्णन में स्वतंत्र रस की सत्ता क्यों न मानी जाय ! जिसके दर्शन से आनन्द का अनुभव

होता है, जो हमारे गूढतम रतिभाव का स्वतंत्र आलम्बन है, जो अनादि काल से हमारे हृदय की गंभीरतम जड़ों में रस सींचती आई है, हमारे जीवन का सारा सायु-जाल जिस के रस से अभिसिंचित है उसके वर्णन में 'रस' की सत्ता न मानना हमारी रूढ़ि-प्रियता व संकीर्ण मनोवृत्ति के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ! वस्तुतः आज हमारे अनेक विकासशील व प्रगतिकाभी समीक्षक 'प्रकृति-रस' की स्वीकृति के पक्ष में पूरे पूरे झुके हुए जान पड़ रहे हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचार ऊपर व्यक्त किये ही जा चुके हैं। बाबू गुलाब राय अपने 'काव्य में प्रकृति-चित्रण' नामक निबन्ध में लिखते हैं—“शास्त्रीय पद्धति केवल दाम्पत्य रति को ही गौरव पूर्ण स्थान देती है किन्तु जिस प्रकार वात्सल्य ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित कर लिया है उस प्रकार प्रकृति भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व-स्थापन कर अपना एक विशेष रस बना लेगी या रति की शास्त्रीय परिभाषा को कुछ शिथिल करना पड़ेगा।” पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र अपने 'वाङ्मय विमर्श' में लिखते हैं—“शास्त्रों में रस प्रक्रिया का विवेचन करते हुए प्राकृतिक विभूतियाँ शृंगार के उद्दीपन के रूप में रख दी गई हैं। जिस प्रकार व्यक्ति या वस्तु के मेल में आने से नाना प्रकार के भावों का उद्भव होता है उसी प्रकार स्वच्छंद प्रकृति के संपर्क में आने से जो भाव जगता है उसका कोई पृथक् नामकरण भी नहीं किया गया। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि प्रकृति के वर्णन से किसी प्रकार का रस व्यंजित होने की संभावना ही नहीं। यदि भानुभट्ट 'मायारस' की कल्पना कर सकते हैं तो 'प्रकृतिरस' की कल्पना प्रकृति-प्रेमियों के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं। संसार में लोकेषणा, धनेषणा, पुत्रेषणा नामक बांछाओं की पूर्ति में प्रवृत्त रहने वाले मायारस के आश्रय होते हैं। प्रकृतिगत भाव की सीमा इससे भी विस्तृत है। संसारी और वीतराग सभी प्रकृति की विभूति पर मुग्ध होते देखे जाते

हैं। प्रत्याक्षानुभूति और काव्यानुभूति दोनों में प्रकृति के आलम्बनत्व से उत्पन्न मनः स्थिति रसमय ही होती है। यह इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता है।” श्री सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अपने ‘रस मंजरी’ नामक ग्रंथ में यद्यपि प्रकृति-वर्णन में प्राचीन परम्परा के अनुसार भाव वा रसाभास (पशु-पक्षियों के प्रेम-वर्णन आदि में) ही मानते हैं किन्तु देव-विषयक रति के प्रसंग में उन्होंने जिस उदारता के साथ ‘भक्ति रस’ के स्वतंत्र रस माने जाने का प्रतिपादन किया है, यदि उसी तर्क-शैली पर चल कर वे प्रकृति पर भी विचार करते तो अवश्य हमारे पक्ष का समर्थन व पोषण करते। इस सम्बन्ध में सेठ जी यदि और विचार कर सकें तो उत्तम हो।

अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ ने प्रकृति की शक्ति, प्रभावशालिता व व्यापकता पर अपने बहुमूल्य विचार व्यक्त किये हैं जिनका उल्लेख प्रकृति-रस के निरूपण के प्रसंग में अनुपयुक्त नहीं होगा। मानव व प्रकृति में आत्मिक साम्य की यह उक्ति देखिए—

To her fair works did Nature link
The human soul that through me ran ;
And much it grieved my heart to think
What man has made of man.

प्रकृति हमें कितने बहुमूल्य उपदेश व स्वर्गीय संदेश देती है—

One impulse from a vernal wood
May teach you more of man,
Of moral evil and of good,
Than all the sages can.

प्रकृति का दर्शन करते करते हमें ऐसी बहुमूल्य चित्त-वृत्ति व अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है—

That serene and blessed mood,
In which the affections gently lead us on,

Until, the breath of this corporeal frame
 And even the motion of our human blood
 Almost suspended, we are laid asleep
 In body, and become a living soul :
 While with an eye made quiet by the power
 Of harmony, and the deep power of joy,
 We see into the life of things.

कवि को प्रकृति में मानवता का करुण संगीत सुनाई पड़ता है—

For I have learned
 To look on nature, not as in the hour
 Of thoughtless youth : but hearing often-times
 The still, sad music of humanity,
 Nor harsh nor grating, though of ample power
 To chasten and subdue. And I have felt
 A presence that disturbs me with the joy
 Of elevated thoughts : a sense sublime
 Of something far more deeply interfused,
 Whose dwelling is the light of setting suns,
 And the round ocean and the living air,
 And the blue sky, and in the mind of man :
 A motion and a spirit, that impels
 All thinking things, all objects of all thought,
 And rolls through all things.

हमारे कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत को प्रकृति मानव की तुलना में
 कितनी स्पृहणीय जान पड़ी है—

झोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
 तोड़ प्रकृति से भी माया,
 बाल ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन—

भूल अभी से इस जग को ?

अभिप्राय यह कि प्रकृति केवल बाहरी जड़सत्ता ही नहीं है, वह
 सचेतन है और हमारी अत्मा के साथ उसका घनिष्ठतम सम्बन्ध है ।
 वह एक प्रत्यक्ष, प्राणवान व जीवित सत्ता है । ऐसी प्रकृति के चित्रण
 का वर्णन में स्वतंत्र रस की सत्ता न मानना कदापि न्यायोचित नहीं ।

मानव-त्मा से प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध हमारी इस अनादि सहचरी के प्रति यह उपेक्षा-भाव त्याग कर अवश्य एक स्वतंत्र 'प्रकृति रस' को मान्यता मिलनी चाहिये । शायद परम्परा-प्रेमी पूछना चाहेंगे कि अच्छा तो रस के शास्त्रीय ढांचे के भीतर प्रकृति रस के अवयव क्या क्या होंगे, और किस प्रकार होंगे, तो स्थूल रूप से वह इस प्रकार रखा जा सकता है—

आश्रय—कवि या भाव-व्यंजना करने वाला पात्र ।

आलम्बन—कोई भी प्राकृतिक दृश्य ।

उद्दीपन—दृश्य को देखने पर उसके प्रति जगी भावना को उद्दीप्त करने वाले प्रकृति के क्षण-क्षण बदलने वाले हल्के-गहरे रंग, रूप, ध्वनियाँ, आकृतियाँ, पवन-प्रेरित स्पन्दन, कम्पन आदि ।

अनुभाव—रोमांच, कम्प, अश्रु, स्तम्भ, भावोद्गार व आत्मिक उल्लास सूचक हर्ष भुद्राएँ आदि ।

संचारी भाव—स्मृति, हर्ष, औत्सुक्य आदि ।

इस प्रकार प्रकृति वर्णन में रसानुभूति की पूर्ण संभावना है । कर्म चक्र में फँसे व्यावहारिक प्राणियों पर खीझ कर ही वईस्वर्थ ने यह मर्मोद्गार व्यक्त किया—

The world is too much with us : late and soon,
Getting and spending, we lay waste our powers,
Little we see in Nature that is ours ;
We have given our hearts away, a sordid boon !

क्या इसके बाद भी हम प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता न मानकर अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटते रहेंगे और अपने को सहृदय समझने की गुस्ताखी करेंगे !

काव्यों में मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का विभिन्न रूपों में प्रयोग होता है । प्रकृति के रूपों की किसी न किसी रूप में सहायता

काव्य में प्रकृति के लिए बिना काव्य चल ही नहीं सकता।
 विविध प्रयोग शुद्ध नर-जीवन सम्बन्धी काव्य में भी प्रकृति की शरण लेनी ही पड़ती है। रमणी के मुख की उपमा कमल अथवा चन्द्रमा से दिए बिना हृदय की पूरी तुष्टि नहीं हुई। बाहु की उपमा मृणाल से और आँख की उपमा मछली, और खंजन की आँखों से देनी ही पड़ी। फ़ारसी शायरी में शायरी आँख की उपमा बादाम से देकर ही खुश हो गए परचमन, गुल, लाला नरगिस, बुलबुल आदि को वे भूल न सके। कोह, बयावाम आदि की बात तो जाने दीजिए क्योंकि वहाँ इनका वर्णन भारी विपत्ति या दुर्दिन के ही प्रसंग में मिलता है। अलबुर्ज जैसे सुन्दर पहाड़ का विशद वर्णन तक उन्होंने न किया। वहाँ प्रकृति के सामान्य विर-परिचित रूपों से अनुराग न जता कर बगीचों के गोल चौखूटे कटावों, सीधी सादी रविशों और मेंहदी के बने भद्दे हाथी-घोड़ों, काट-छाँट कर सुडौल किए हुए सरों के पेड़ों की कतारों, एक पंक्ति में फूले हुए गुलाब के फूलों का ही वर्णन किया गया है। भारतीय कवियों में प्रकृति-वर्णन का आदर्श ही और रहा।

प्रकृति के अनन्त रमणीय प्रसार में काव्योपयोगी असीम सौन्दर्य, अगाध माधुर्य, अगणित रञ्जनकारी ध्वनियाँ, आकर्षक वर्ण, रूप, आकृतियाँ, भरी पड़ी हैं। रूप-माधुर्य के इस अक्षय भाण्डार से काव्य अपने को सदा श्री-सम्पन्न रखता है। उसमें प्रकृति का ग्रहण विभिन्न रूपों में होता है।*

* अपने "An introduction to the study of literature" के "On the treatment of Nature in poetry" नामक परिशिष्ट (Appendix) में हडसन (W. H. Hudson) ने काव्य में प्रकृति का निम्नांकित रूपों में प्रयुक्त होना निरूपित किया है—

The poetry of simple delight in nature; The poetry of Nature's sensuous beauty; The metaphorical use of Nature; Nature as back-ground; The poetry of associa-

१ मुक्त आकाश के नीचे स्वच्छन्द पवन में अनुभूत खुले खेतों के
आनदोल्लास-पूर्ण जीवन का चित्रण करने में
खुले जीवन के जिसमें कवि अपने हर्ष-पुलक आदि की भी
चित्रण में भरपूर व्यंजना करता है और प्रकृति के प्रति
अपने असीम अनुराग का परिचय देता है ;

शार्प (J. C. shairp) के शब्दों में यह यों कहा गया है—

“That simple, spontaneous, unreflecting pleasure
which all unsophisticated beings feel in free open air
life.”
(Poetic interpretation of Nature)

इस प्रकार की कविता में न तो कल्पना की दूरारूढ़ जटिलता होती है, न भावों की गम्भीर सूक्ष्मता होती है, और न किसी तरह की आध्यात्मिक विचार-धारा ही। प्रकृति के खुले क्षेत्र में अनुभव किए हुए उन्मुक्त आनन्द और सरल उल्लास की सीधी सच्ची और मधुर अभिव्यक्ति ही इस प्रकार की कविता का प्राण है। सीधी बहती जाती हुई सरल-स्निग्ध जल-धारा की तथा उषा-अरुणिमा में क्रीड़ा करती पुलकाकुल विहंगी की गति के समान इनकी गति मोहक होती है। नाद-सौन्दर्य के योग से इसकी मोहकता और भी बढ़ जाती है। जिस आन्तरिक पुलक से मोर, पपीहे अनजान में ही बोल उठते हैं उसी पुलक से इस प्रकार की कविता उत्पन्न होती है। ऐसी कविता के नमूने ये हैं—

The ploughboy is whooping—anon—anon :
There is joy in the mountains ;

tion ; The poetry of set-description ; Indifference of Nature ; The sympathy of Nature ; The subjective treatment of Nature.

ठीक इसी प्रकार का निरूपण शार्प (J.C. Shairp) के “Poetic interpretation of Nature” में हुआ है किन्तु हड्सन ने उसमें कुछ परिवर्द्धन किया है

There is life in the fountains ;
 Small clouds are sailing,
 Blue sky prevailing ;
 The rain is over and gone !

×

×

×

Up up with me into the clouds
 For thy song, Lark, is strong ;
 Up with me, up with me into the clouds !
 Singing Singing,
 With clouds and sky about thee ringing,
 Lift me, guide me till I find
 That spot which seems so to thy mind !

×

×

/

While I am lying on the grass
 Thy two-fold shout I hear,
 From hill to hill it seems to pass
 At once far off and near.

.....Wordsworth.

ऐसी कविताओं में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इनका वानावरण बड़ा हल्का और प्रसन्न होता है। ऐसी कविताओं में ध्वनि का भी सामञ्जस्य आवश्यक है। पक्षियों की चहक, लहरों की कोमल कल-कल ध्वनि, खेलते-कूदते जाते हुए निर्भर का कल-निनाद, खेतों अथवा मैदानों में से उठ कर आई ऊँची आवाजें इत्यादि ऐसे दृश्यों में ध्वनि का विधान करती हैं। इन ध्वनियों से वह दृश्य मुखरित हो जाता है और तदनुसार कवि भी वैसी ही ध्वनि की संवेदना अपनी कविता में उत्पन्न करता है। यह भी कहना आवश्यक है कि इस प्रकार की कविताओं में वर्ण-वस्तु प्रायः हमारे हृदय की कोमल भावनाओं की ही आलम्बन होती है। वीरता की व्यंजना ऐसे दृश्यों को देखकर नहीं हो सकती क्योंकि वे हमारे हृदय की कोमल वृत्तियों को ही जगाते हैं। कवि का प्रसन्न और हल्का हृदय ही ऐसी कविताओं में प्रतिम्बित होना

है। ये थोड़ी भी प्रयत्न-साध्य हुई कि भाव से भारी होकर अपना नैसर्गिक सौंदर्य खो देंगी।

(२) प्रकृति के बाह्य सौंदर्य-मात्र से प्रभावित होकर उसका बाह्य स्वरूप चित्रण करने में—

काव्य में प्रकृति का जिस दूसरे रूप में प्रयोग होता है वह बाह्य-स्वरूप-प्रधान कविता में होता है। ऐसी कविता में बाह्य-सौंदर्य-भी कवि को अपना पूर्ण अनुराग प्रकट करने का निरुपेक्ष अवकाश मिलता है। जो कवि वस्तुओं के बाह्य रूप, कविता में वर्ण, आकार आदि में ही हृदय के अनुरञ्जन की पर्याप्त सामग्री पा जाते हैं और उन वस्तुओं की किसी पारलौकिक सत्ता की परवाह नहीं करते, उनकी प्रतिभा मनोहर वस्तुओं के सौंदर्य-दर्शन-मात्र में ही लीन रहती है। वे फूल, लहर अथवा तितली को इस लिए प्यार नहीं करते कि उनमें उन्हें किसी परोक्ष सत्ता का आभास मिलता है अथवा किसी आत्मा के दर्शन होते हैं। वे उन्हें केवल इसीलिए प्यार करते हैं कि फूल अपनी दीप्ति, कान्ति, माधुर्य, कोमलता आदि से हमारे नेत्रों को सहज ही तृप्त करते हैं और अपनी भीनी, शीतल और मादक सुगन्धि से हमें मस्त कर देते हैं। लहरों की मृदुलता, शीतलता और निर्मल तरलता तथा तितली-दल में थिरकन, चपलता और निश्चिन्त उल्लास के दर्शन होते हैं इसीलिए वे उन्हें प्रिय हैं। सारांश यह है कि ऐसे कवि प्रधानतः सौन्दर्य के उपासक होते हैं और अपना कवि-कर्म प्रकृति-क्षेत्र और नर-क्षेत्र दोनों के बीच दिखाई पड़ने वाले रूपों और व्यापारों के चित्रण तक ही सीमित रखते हैं। अंग्रेज कवि कीट्स (Keats) इसी कोटि का कवि था। उसका ध्यान सदा वस्तुओं के बाह्य सौन्दर्य तक ही सीमित रहा। वर्ड्सवर्थ और शेली भिन्न कोटि के थे वे प्रायः अध्यात्म-पक्ष की ओर जा निकलते थे। कीट्स प्रत्येक वस्तु में किसी परोक्ष सत्ता के अथवा आत्मा के दर्शन

करने का अभ्यस्त न था। उसने भौतिक सौन्दर्य को भी आदर्श-दृष्टि से देखा। उसने अपनी इन प्रसिद्ध पंक्तियों में अपना विचार प्रकट किया है—

✓ “Beauty is truth, truth beauty,—that is all
Ye know on earth, and all ye need to know.”

अर्थात्, सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य है। बस हमें इस पृथ्वी पर रहकर केवल इतना ही तो अनुभव करना है। इससे अधिक और क्या ?

यह ‘सत्य’ और ‘सुन्दर’ का आदर्श सामञ्जस्य है जो कि व्यवहार की ही दृष्टि से है, आध्यत्मिक दृष्टि से नहीं। अपनी इस धारणा अथवा अनुभूति में कवि ने ऐन्द्रिक सुखों और रूपों को भी सत्य के सात्विक प्रकाश में देखा है। मनुष्य-देह के सौन्दर्य की कोई उपेक्षा नहीं। वह उसे उतना ही सुन्दर और सुखदायी मानता है जितना कि चन्द्रमा, कली, घास की पत्ती और ऊषा की मधुर लालिमा को। बस, जो कोई वस्तु सुन्दर हो वह सत्य है; और जो कुछ सत्य है, वह सुन्दर होगा ही। कीट्स का इतना ही कहना है। नीति के नाम पर पाषण्ड रचने वाले, कीट्स के इस सौन्दर्य-कथन में शारीरिक नर-नारी-सौन्दर्य का और ऐन्द्रिक विषयों का सन्निवेश सन्दिग्ध दृष्टि से देखेंगे। पर वे पहले किसी निर्जन कानन के विस्मृत बीहड़ पथ में उगी कंटीली झाड़ियों को तथा रमणी के मुख को दोनों को एक साथ सुन्दर कहना सीख लें, तब वे कीट्स के सिद्धान्त की उदात्त भूमि में पाँव रख सकेंगे।

कीट्स ने इस सौन्दर्य के स्थायित्व का भी उल्लेख बड़े सुन्दर शब्दों में किया है—

‘A thing of beauty is a joy for ever :
Its loveliness increases ; it will never
Pass into nothingness ;

—Endymion, Book I

अर्थात्, सुन्दर वस्तु सदा के लिए आनन्ददायिनी होती है। यदि वह वास्तव में सुन्दर है तो उसका मूल्य कभी कम न होगा और वह दिन दिन अधिकाधिक सुन्दर लगेगी। पर उसे नित्य-नवीन देखते रहने की दृष्टि भी वही होगी जिससे हम सब सामान्य वस्तुएँ देखते हैं। कीट्स के लिए उस वस्तु के व्यावहारिक मूल्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

“A primrose by a river's brim,
A yellow primrose was to him,
And it was nothing more.”

कीट्स कहता है कि इसके अतिरिक्त उसे और कुछ माना ही क्यों जावे ? हमें जबरदस्ती ही उसका नीति-संगत और आध्यात्मिक अर्थ भिड़ाने का जरूरत ही क्या है ? क्या उसका सरल सुन्दर बाह्य रूप ही हमें पर्याप्त आनन्द-मग्न कर सकने में समर्थ नहीं ? जो सुन्दर है उसे झूठी कल्पना के आवरण से व्यर्थ ही क्यों असुन्दर बनाते हो। जैसा है वैसा ही न देखो !

(३) किष्की मार्मिक-तथ्य-व्यंजक प्राकृतिक व्यापार अथवा व्यापार समष्टि के सामूहिक प्रभाव पर ध्यान रखकर अर्थान्तरन्यास अथवा मानव जीवन पर मार्मिकता से घटित होने अन्योक्ति में वाली अन्योक्तियों, अर्थान्तरन्यासों और दृष्टान्तों आदि की रचना में;

प्रकृति का एक दूसरे प्रकार का प्रयोग इस रूप में भी अत्यन्त मार्मिक तथ्य-व्यंजक रूप में होता है। कबीर की इन अन्योक्तियों को लीजिए—

माली आवत देखि करि, कलियन करी पुकार ।

फूले फूले चुणि लिए, कलहि हमारी बार ॥

बाढ़ी आवत देखि करि, तरिवर डोलन लाग ।

हम कटे की कुछ नहीं, पंखेरु घर भग ॥

उर्युक्त अन्योक्तियों में जीवन के इस तथ्य के मार्मिक मूर्त प्रत्यक्षीकरण के लिए कि जब काल आ पहुँचता है तब किसी को नहीं छोड़ता, प्राकृतिक व्यापार—वृक्षों का पवन में डोलना और कलियों का हँसना (लक्षणा से पुकारना)—चुने गए हैं। इस प्रकार प्रकृति अप्रस्तुत के रूप में गृहीत हुई है; प्रस्तुत, काल के आ पहुँचने का सत्य है। प्राचीन हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार की बहुत मार्मिक अन्योक्तियाँ भरी पड़ी हैं। अन्योक्तियों की तरह ही 'दृष्टान्त' के उदाहरण भी मिल सकते हैं।

(४) अप्रस्तुत-विधान अथवा अलंकारों की योजना में जिसमें प्रस्तुत उपमेयों के उपमान खड़े करने के लिए अप्रस्तुत-विधान प्राकृतिक रूप-व्यापार चुने जाते हैं। इसके अन्तर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, दृष्टान्त, अन्योक्ति आदि आते हैं। रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण के रूप में सूर का एक प्रसिद्ध पद दिया जा सकता है जिसमें केवल प्राकृतिक उपमानों का कथन मात्र है और उपमेय पक्ष व्यंग्य है—

अद्भुत एक अनूपम बाग ।

जुगल कमल पर गजवर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग ।

हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग ।

रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ताहूँ पर अमृत फल लाग ॥

फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृगमद काग ।

खंजन, धनुष, चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर यक मनिधर नाग ॥

अंग अंग प्रति और और छवि उपमा ताको करत न त्याग ।

सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानहु अधरन के बड़ भाग ॥

(अमरगीत-सार)

इसमें रूढ़ उपमानों का कथन मात्र है। जावसी के 'पदमावत' में पदमावती के सौंदर्य-वर्णन में तथा गुप्त जी के 'साकेत' में उर्मिला के सौंदर्य-वर्णन में भी रूपकातिशयोक्ति का सुन्दर प्रयोग हुआ है। ऐसा विधान काव्य में अब अच्छा नहीं माना जाता। प्रकृति का महत्वपूर्ण उपयोग अलंकारों आदि में भी होता है। मुख की उपमा कमल अथवा

चन्द्रमा से; आँखों की उपमा भ्रमर आदि से; केशपाश की उपमा मेघ आदि से दिए जाने में प्रकृति का अलंकार रूप में प्रयुक्त होना स्पष्ट ही है।

(५) वनस्थली-चित्रण में;

कवि भी चित्रकार की तरह प्रकृति का चित्रण करता है और वह भी स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में। इसके विषय वनस्थली चित्रण में में पिछले पृष्ठों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है अतः यहां अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

(६) मार्मिक प्रतीक खड़े करने में;

प्रकृति के रूपों और व्यापारों का प्रतीक रूप में ग्रहण करने में उसका काव्योपयोगी प्रयोग होता है।

प्रतीक प्रतीक-रूप में प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का प्रयोग बराबर होता आया है।

“किसी वस्तु का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना चट मन में आ जाती है उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविकारों या भावनाओं को जाग्रत कर देती हैं। ‘कमल’ माधुर्यपूर्ण कोमल मौन्दर्य का, ‘कुमुदिनी’ शुभ्रहास का, ‘चन्द्र’ मृदुल आभा का, ‘समुद्र’ प्राचुर्य विस्तार और गम्भीरता का, ‘आकाश’ सूक्ष्मता और अनन्तता का, ‘उषा’ श्री, यौवन, उमंग और अनुराग का प्रतीक है। ‘प्रसाद’ जी ने प्राकृतिक प्रतीकों का मार्मिक विधान किया है:—

ले चल वहां भुलावा दे कर
मेरे नाविक धीरे धीरे !

जिम निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी

निश्छल प्रेम कथा कहती हो

तज कोलाहल की अवनी रे ॥

(‘लहर’)

तथा,

उठ, उठ, री लघु लघु लोल लहर !

अभिव्यंजना का लाक्षणिक वैचित्र्य तथा प्रतीकात्मक प्रयोगों का प्राचुर्य, नवीन हिन्दी-कविता की प्रमुख विशेषताएँ हैं। अतः प्रतीकों पर हिन्दी कविता पर विचार करते समय आगे लिखा जायगा।

अमरत्व और ईश्वर की भावना

(७) मनुष्य के हृदय में अमरत्व की भावना जगाने तथा रहस्य की प्रतिष्ठा करने वाली के रूप में;

प्रकृति-दर्शन से मन में रहस्य-भावना का स्फुरण किस प्रकार स्वभावतः हो जाता है इसका निरूपण पिछले प्रकरण में हो चुका है। कवि लोग प्रकृति का प्रयोग ईश्वरीय-सत्ता की कुछ भलक देने के प्रयोजन से भी करते हैं। उसे देखकर उन्हें अपनी अमरता का भी भान होता है और कभी कभी प्रकृति की नित्यता और अपनी अनित्यता का भी—

“कलिके ! मैं चाहता तुझे उतना जितना यह अमर नहीं,
अरी तटी का दूध मधुर तू उतनी जितना अधर नहीं।
किशलय, तू भी मधुर चन्द्र-वदनी निशि, तू माँठी रानी !
दुख है, इस आनन्द-कुंज में मैं ही केवल अमर नहीं ॥

(रेणुका : 'दिनकर')

कीट्स ने अपने 'Ode to the Nightingale' में अपनी अचिरता और पक्षी की अमरता का कैसा करुण वैषम्य दिखाया है—

“Thou wast not born for death, immortal bird !
No hungry generations tread thee down ;
The voice I hear this passing night was heard
In ancient days by emperor and clown”

अर्थात्, हे पक्षी, तुम्हारा जन्म मरने के लिए नहीं हुआ। मनुष्य-समाज की चली आती हुई परम्पराओं के उत्थान-पतन के प्रभावों से

तुम सर्वथा मुक्त हो। उनके बीच रहते आते भी तुम अपना प्राचीन रूप सुरक्षित रखे हुए हो ! जैसी तुम्हारी आवाज़ मैं आज इस अँधेरी रात में सुन रहा हूँ ठीक वैसे ही अत्यन्त प्राचीन काल के किसी राजा आदि ने तुम्हारे कण्ठ से सुनी होगी। आह, प्यारे पक्षी तुम तो अमर हो, हम ही अभागे प्राणी नश्वर हैं।

‘प्रसाद’ ने भी यही भावना यों व्यक्त की है—

चातक की चकित पुकारें, श्यामा-ध्वनि सरल रसीली,
मेरी करुणाद्र कथा की टुकड़ी आंखों में गीली ! —‘आम्’

इसी प्रकार कवि समस्त प्रकृति के बीच चलते रूप-व्यापारों में अपने ही अस्तित्व का अनुभव करता हुआ अपने को अमर मानने की व्यापक भावना से उल्लसित हो जाता है तथा समस्त रूप-सत्ता में अपनी ही आत्मा का प्रसार देखता है। यह भावना यों व्यक्त की जा सकती है—

मैं चिर प्रकाश की अमर किरण !
मैं आदि स्रोत हूँ जीवन का मैं नहीं जानता जन्म-मरण !

मैं अमर तूल की अमिट रेख,	फूलों में मेरे द्विपे हास
हूँ मैं अनादि मैं अन्त-हीन !	निर्भर मैं मेरे करुण गान,
ऊषा मुझसे अनुरजित है	मैंने ही तो है किया अरे,
मैं चिर सुन्दर, रे चिर नवीन !	नभ में तारों का दीप-दान
मैं अखिल जगत् का आकर्षण । मैं चिर०	करता प्रकाश का मैं वितरण । मैं चिर०

सागर की चंचल लहरों पर
तिरते हैं मेरे तरल गीत
मैं ही भावी का स्वप्न मधुर
मैं वर्तमान, मैं ही अतीत !

मैं लघु, विराट, मैं युग, मैं क्षण । मैं चिर०

के दिनों में प्रकृति के इन सुन्दर स्थानों की कुरूपता देखो, जहां कुहरा छाया रहता है, जब इतनी शीतल वायु चलती है कि शरीर कांपने लगता है। गरमी के दिनों में दोपहर के समय इतनी कड़ी लू चलती है कि शरीर झुलस जाता है।.....प्रकृति मनुष्य की सुविधा नहीं देखती, इसीलिए वह अपूर्ण है।”

प्रकृति का यह व्यावहारिक रूप निःसन्देह दुखदायी है किन्तु जीवन की विषम परिस्थितियों के प्रचण्ड थपड़ों से जर्जरीभूत विदग्ध भावुकों को उसके विकराल रूपों में भी ममता, प्रेम और सहानुभूति का अनुभव होता है। ऐसे ही व्यक्ति प्रकृति के सच्चे उपासक होते हैं और अपना विश्वास उसमें अविचल रूप से बनाए रखते हैं। शेक्सपियर ने अपने एक नाटक में ड्यूक के कथन द्वारा यह प्रकृति-प्रेम दिखाया है:—

“Duke S.....Has not old custom made this life...

more sweet than that of painted pomp ? Are not
these woods

More free from peril than the envious court ?

Here feel we but the penalty of Adam,

The season's difference, as the icy fang

And churlish chiding of the winter's wind,

Which, when it bites and blows upon the body.

Even till I shrink with cold, I smile and say

“This is no flattery ; these are counsellors

That feelingly persuade me what I am.’

Sweet are the uses of adversity,

Which, like the toad, ugly and venomous

Wears yet a precious jewel in his head,.....”

(‘As you Like It’ —Shakespeare)

Act II Sc. I (Forest of Arden)

“अपना अपना भाग्य” कहानी में श्री जैनेन्द्रकुमार ने एक ओर स्वास्थ्य-लाभ और आमोद-प्रमोद के लिए की गई नैनीताल-यात्रा और दूसरी ओर पहाड़ी लड़के की मृत्यु के बीच खड़े किए वैषम्य में प्रकृति की क्रूर-क्रीड़ा की ही ओर दवा हुआ संकेत है।

तात्पर्य यह है कि प्रकृति के व्यावहारिक और काव्य-गत स्वरूप में भेद है किन्तु साहित्य में प्रायः उसके प्रत्येक रूप और व्यापार को कला की तृप्ति के लिए मधुर कर लिया जाता है।

(६) कभी कभी कवि लोग प्रकृति के बीच चलते हुए जीवन और नर-समाज के बीच चलते हुए जीवन पर प्रकृति और सभ्यता सामूहिक दृष्टि डाल कर पिछले प्रकार के जीवन को ही जीवन का प्रकृत स्वरूप समझते हैं और उसी के अनुसार विश्व-जीवन का संशोधित होना कल्पित करते हैं। जीवन की स्वभाविक और मूल पद्धति को छोड़कर जो आधिभौतिक विज्ञान-प्रसूत नवीन परिस्थितियों से निर्मित तर्क-बुद्धि-प्रधान कर्म-कोलाहलपूर्ण जीवन हम व्यतीत कर रहे हैं वह प्राकृतिक जीवन से बहुत दूर जा पड़ा है। और इसीलिए हमारा जीवन एक अविराम क्रन्दन हो गया है। हम आत्मा से शरीर की ओर आ गए हैं। शान्ति-पूर्ण जीवन का निर्वाह प्राकृतिक जीवन-परिस्थितियों में ही सम्भव है। एक ओर कवि नर-समाज का जीवन देखता है और दूसरी ओर प्रकृति का। वह दोनों में घोर विरोध देखता है।

आज हमने विशाल और वैभवशाली नगरों का निर्माण कर लिया है। हस्तकला और शिल्प का जनाज्जा निकाल हमारा आज का जीवन कर, मनुष्य के हाथ का प्यारा कार्य छीन कर, कल-कारखानों की शरण ले ली है। सभ्यता की उन्नति (?) के लिए अवकाश पाने की धुन में होटलों में पेट-पूर्ति का बँधान बाँध कर कुछ शिक्षितों ने अपनी गृह-लक्ष्मियों को, धर

के मधुर और प्यारे काम से छुड़ाकर, समाज-सुधार (?) के कार्य में ही प्रवृत्त कर दिया है। आधिभौतिक सुख-साधनों से सम्पन्न नवीन ढंग के नगरों में एक ओर वैभव-विलास से अजीर्ण अभ्रंकष प्रासादों में लक्ष्मी का वासना-ताण्डव हो रहा है और दूसरी ओर रोग-शोक-जर्जर अस्थि कंगाल-मात्र, समाज का श्रम-जीवी दलित वर्ग धूम्र श्यामल, क्रन्दन-संकुल यन्त्रालयों में कठिन आजीविका का अर्जन कर नगर के चिर-विस्मृत पार्श्व में नारकीय जीवन की वैतरणी में बिलबिला रहा है। एक ओर मनुष्य, मनुष्य न रहकर शक्ति, दम्भ, मद और पापण्ड की साक्षात् जघन्य मूर्ति हो गया है और दूसरी ओर निबल प्राणी निर्जीव चेतना लिए करुणा की तप्त-छाती में मूर्छित पड़ा है। आज नर और नारी दोनों के हृदय के केन्द्र-बिन्दु मानो अपने प्रकृत स्थान से खिसक गए हैं। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का समस्त कार्य कल कारखानों से ही लेने के कारण मनुष्य अवकाश-प्राप्त हो गया है और इसका दुरुपयोग करता हुआ उसका मस्तिष्क अव शैतान का अड्डा हो गया है। भ्रान्ति, कुतर्क, छल-छिद्र एवं मिथ्या दर्शन से मनुष्य के हृदय का अञ्चल जर्जर हो गया है जिससे जीवन का रस एक क्षण भी नहीं ठहर पाता। धर्म और ईश्वर की पुण्य सत्ता को अपने कुतर्क-बल से उपेक्षित कर हम आज घोर अनीश्वरवाद हो गए हैं !

आज राष्ट्र दहाड़ रहे हैं, संस्कृतियां टकरा रही हैं, और विश्व-प्राण महागर्जन कर रहा है। भगवान् की मंगल उद्देश्य से रची आनन्दमयी सृष्टि के बीच रहकर भी मनुष्य अपनी आत्मा में निहित अमर-ज्योति को न पहचान कर जीवन की जड़ता की ओर अग्रसर हो गया है, बर्बर, क्रूर, जंगली की तरह आकाश और पाताल में धूम मचा रहा है, आत्मा का बल त्याग कर वह पशु-बल का प्रयोग कर रहा है और इस कल्याणी सृष्टि को असफल कर रहा है। आनन्दधाम नन्दन-वन-से

जगत् की सुधा-शांति को अधर्म-युद्ध के प्रचण्ड कोलाहल से भंग कर वह अपनी आसुरी वृत्तियों से प्रकृति की महाशक्तियों पर विजय प्राप्त कर रहा है और अनियन्त्रित महत्वाकांक्षा के प्रचण्ड वात्याचक्र में फँस कर जीवन की सात्विक शांति को खो रहा है ।

आज की सभ्यता मनुष्य को घोर कृत्रिमता की ओर ले जा रही है । सहज सुन्दर विश्वासों से हमारा मन हटाया जा रहा है । विज्ञान के इस अन्ध-युग में मनुष्य बाह्य साधनों से सम्पन्न होकर अपनी बुद्धि का श्लाघ्य प्रदर्शन तो कर सका है किन्तु उसका हृदय अभी भूखा ही है । हम अपनी बुद्धि से आकाश-यान जितना ही जितना ऊँचा उड़ा सकने में समर्थ हुए, हम उतने ही अधिक रसातल में गिरे । सहस्रों कोसों के भयानक और दुस्तर महासमुद्रों को पार कर हम विविध देशों के बीच पारस्परिक ऐक्य स्थापित करने के लिए सुदृढ़ जलयानों को लेकर जितनी ही तेजी से दौड़े उतना ही उतना मनुष्य का हृदय दूर रहा । विश्व-प्रेम, विश्व-बंधुत्व और विश्व-शान्ति का आज के युग ने जितना ही जितना प्रचार किया उतने ही उतने राष्ट्र भूखे भेड़िये की तरह दहाड़ कर एक दूसरे पर लपके । आज मनुष्य के प्रकृत धर्म का दुःखद ह्रास हो रहा है । हमने जितना ही जितना अपनी मुखाकृति को पोमेड, स्नो और ब्रिलियन्टाइन से उज्ज्वल बनाया उतनी ही उतनी कालिमा हमारे हृदय पर छाती गई । हम ग्रामोफोन की जड़ चूड़ी में अपरिचित व्यक्तियों का स्वर संरक्षित कर सकने में पूर्ण सफल हुए किन्तु हमने प्रत्यक्ष, सामने खड़े हुए दीन का रुदन हर्गिज न सुना । मनुष्य का कैसा घोर अधःपतन है !

आज जीवन के प्राकृतिक सौन्दर्य, शान्ति और प्रेम का निष्ठुर अन्त हो रहा है । सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई है । गृह-जीवन, दाम्पत्य-जीवन ज्वाला-मय हो चला है । आध्यात्मिक सूर्य की रश्मियों से किरीटित, देवत्व के गिरि-शिखर पर प्रतिष्ठित, सृष्टि के भंगल वरदान—

नारी का अब मूल्य नष्ट हो रहा है । उसके एक भाग ने अपने ईश्वर-प्रदत्त प्रेम, त्याग, करुणा, माधुर्य, दया दाक्षिण्य आदि को मनुष्य की पाप-वासना के हाथों नीलाम कर चार-चार आने में नग्न नृत्य करना सहर्ष स्वीकार कर लिया है । सैकड़ों, हजारों वर्षों के सञ्चित अथाह साहित्य दर्शन, कला, शिल्प, विद्या, आदि का अधिपति होकर भी आज मनुष्य भूखे कुत्ते की तरह लड़ रहा है । मनुज-आत्मा का मोहक रहस्य-संगीत तोपों की हृदय-भेदी गड़गड़ाहट में लुप्त हो गया है तथा भयंकर बम-विस्फोट के सघन धूम्र-पुञ्ज में मानवता अदृश्य हो गई है । दारिद्र्य, अवर्षण, जल-बाढ़, भूकम्प, अराजकता, कष्ट-क्रन्दन, अव्यव-साय, रोग-शोक, जरा-मरण आदि से विश्व का तन जर्जर हो रहा है । प्रेम की अलौकिक ज्योति की चकाचौंध न सह सकने के कारण चर्म-चक्षुओं से युक्त मनुष्य ने उसका अर्थ वासना ही लगा लिया है । यह सब उसके हृदय की नृशंस वासना का ताण्डव हो रहा है जिसकी गति में देश, काल और विश्व-जीवन थर्थर् काँप रहे हैं । चेतना का कैसा जड़ रहस्य है !

खेत, झोंपड़े और बन-पर्वत छोड़ पक्के मकानों में बस कर हमने अपना जीवन नष्ट कर लिया ! सचमुच नष्ट कर लिया !! अपने प्राचीन जीवन में जब कृत्रिम बुद्धि-व्यापारों की ऐसी जटिलता नहीं थी तब सात्विक शांति और स्निग्ध सरलता का जीवन शरद्-संध्या की गंगा की निर्मल जल-धारा सा बहता था ! इसी आज के आकाश के नीचे खेतों, पहाड़ों, बनों, नदियों, फूल-पत्तों, पेड़ों आदि के बीच हम जीवन बिताते थे । पर वे अमृतमय जीवन प्रदान करने वाले स्वर्ण-काल अस्त हो गए । तब मनुष्य का हृदय सही-सलामत था । जीवन की स्वाभाविक धूप-छाया और फूल-काँटों के बीच मनुष्य का जीवन स्वभावतः विकसित होता था । आज के जीवन की तरह उस समय का जीवन नहीं था । हृदय की शुद्ध और सात्विक पद्धति के

अनुसार जीवन-यापन करने का अवकाश आज नहीं मिल पाता ! उस समय मन स्वतन्त्र था, तन स्वतन्त्र था । किन्तु जब झरनों का पानी बोटलों में भर कर विकने लगा, मीठे रसीले फल, दूध, घी, मक्खन मनुष्य की हिकमत से, एअरटाइट डिब्बों में भर कर हजारों कोसों दूर विकने के लिए पहुँचाये जाने लगे और स्वास्थ्य के लिये प्रकृति की गरज न रख के, मनुष्य ने सड़े अंगूरे के आसव का भी रुचि के साथ पान करना शुरू किया, नगरों के घरों के तहखानों तक भी मनुष्य ने आविष्कार-बुद्धि से पवन उत्पन्न कर लिया तब तो प्रकृति ने मानों मनुष्य से अपनी गहरी मात मंजूर कर ली । वह उपेक्षिता अब मनुष्य की सीमा में आने की हिम्मत नहीं करती ! मनुष्य अब भी उन्नति (!) करता जा रहा है । गोचर-भूमि, वन, पहाड़ और खेतों को छेक कर नगर-कारखाने बनाता जा रहा है । जिस दिन सूर्य की एक भी किरण मनुष्य को न दिखाई देगी, प्रभात की शीतल-मन्द वायु में सलज्ज कलियाँ अपने प्रेमी भँवर के सामने हृदय न खोल सकेंगे, उस दिन मनुज-सभ्यता का चरमोत्कर्ष होगा !!!

पौ फटने के समय ऊँची आवाज से सीटी देते हुए मिल-कारखानों की ऊँची ऊँची चिमनियों से निकलते हुए सघन कज्जल-श्याम धूँ की लम्बी धारा आज जब सुदूर प्राची में उदित होते हुए देदीप्यमान सूर्य के आगे से हो कर निकलती है तब मुझे ऐसा मालूम होता है मानों साक्षात् विज्ञान अपने मन में अपने को घोर पातकी और कुचाली समझ कर अपनी पाप-पूर्ण बाहें स्वर्ग की देवी उषा की आँखों के आगे इस भय से कर देता है कि वह उसे पहिचान कर उसकी सारी भौतिक पाप-लीला का जिक्र स्वर्ग में जा कर न कर दे !

कवि एक ओर तो मनुष्य-समाज के बीच का यह जीवन देखता है और दूसरी ओर प्रकृति का शान्तिपूर्ण जीवन । भावुक कवि प्रकृति के रहस्यपूर्ण नियम को समझ कर विश्व-जीवन को भी इसी नियम

प्रकृति का जीवन से सञ्चालित करा कर जीवन में उसी शान्ति का अनुभव करने की कल्पना करते हैं। प्रकृति के बीच दिखाई पड़ने वाली शान्ति, सौन्दर्य, सुषमा, स्वच्छन्दता, माधुर्य आदि के विरोध में वे अशान्ति, कुरूपता, विशृङ्खलता और नियम-बद्धता आदि देखकर विश्व-जीवन को प्राकृतिक जीवन से संशोधित करते हैं। अतः मनुष्य के लिए प्रकृति का एक नैतिक मूल्य है जो कदापि अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इससे प्रतीत होता है कि प्रकृति पथ-भूले मनुष्य को समय समय पर सचेत करती रहती है। व्यापक दृष्टि खो जाने पर वस्तु-वादी बने हुए मनुष्य की आँखें वह समय-समय पर खोलती रहती हैं और उसमें पवित्र अनुभूतियों का सञ्चार करा कर उसके आत्म-परिष्कार का मार्ग प्रशस्त करती चलती हैं। प्रकृति हमारा नेतृत्व करती है। वह मानों हमें कहती है, “प्यारों, उधर नहीं, इधर चलो, उस मार्ग की भूमि कठोर है। उधर तुम्हें कठोरता, कुरूपता, और दुःख मिलेगा। इधर आओ, मैं तुम्हें सौन्दर्य, माधुर्य, प्रकाश, आनन्द और संगीत की ओर ले चलूँगी। आओ, तुम्हें जीवन की शुद्ध भूमि पर ले चलूँगी। देखो, पुष्पों का जीवन। ये अपने प्राणों का सौरभ पवन को लुटाकर हँसते हँसते झर जाते हैं। और, यह देखो लहरों का जीवन ! जीवन की घोर विषमताओं के बीच भी उल्लसित हृदय ले कर ये एकाग्र चित्त से अपने लक्ष्य की ओर अविराम गति से बढ़ती जाती हैं—यह जीवन तुम इनसे सीखो। और ये नक्षत्र देखो, जो रात्रि के सूने पहरों में चमक कर महाशून्य को अथाशक्ति अपनी ज्योति प्रदान करते रहते हैं और अपना सर्वस्व लुटा कर अनन्त में विलीन हो जाते हैं।

तृतीय प्रकरण

काव्यों में प्रकृति-चित्रण

(क) संस्कृत-काव्य में प्रकृति-चित्रण

पिछले प्रकरण में परवर्ती संस्कृत कवियों और आचार्यों द्वारा, प्रकृति के उद्दीपन-रूप में ही गृहीत किए जाने पर कुछ कहा गया था। वाल्मीकि के पश्चात् कालिदास और भवभूति तक तो प्राकृतिक दृश्यों का स्वतन्त्र आलम्बन-गत वर्णन करने की प्रवृत्ति रही किन्तु आगे चल कर कुछ इनी गिनी वस्तुओं का कथन-मात्र करके ही काम चलाया जाने लगा। कालिदास के समय

✓ **सामान्य परिचय** से अथवा उनके कुछ पहले से ही दृश्य-वर्णन की दो प्रकार की पद्धतियाँ काव्य में प्रचलित हुईं। वनस्थली-चित्रण में भी उसके संश्लिष्ट और विशद रूप में चित्रित किए जाने की प्राचीन पद्धति ही प्रचलित रही किन्तु ऋतु-वर्णन के लिए, भगवान् भरत मुनि के आज्ञानुसार केवल कुछ इनी गिनी वस्तुओं का ही नाम लिया जाता रहा। अतः परवर्ती संस्कृत काव्य में अर्थ-ग्रहण कराने की ही प्रवृत्ति रही। “सूक्ष्मरूप-विवरण और आधार-आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ बिम्ब-ग्रहण कराना” कवियों का लक्ष्य न रहा। आदि-कवि वाल्मीकि तथा भास आदि के काव्य की तुलना करने से यह स्पष्ट लक्षित हो जायगा। तात्पर्य यह है कि प्राचीन संस्कृत-काव्य में प्रकृति बहुत कुछ आलम्बन रूप में ही कवियों द्वारा गृहीत हुई किन्तु परवर्ती कवियों ने तो उसका उपयोग केवल उद्दीपन के रूप में ही किया।

हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त मार्मिक और अनुरञ्जन-
कारी प्रकृति-वर्णन मिलता है। वाल्मीकि,
प्राचीन कवियों का कालिदास आदि ने तो मानो उसे अपने काव्य
प्रकृति-वर्णन का नित्य लक्षण ही बना लिया था। उनके
काव्य-चित्र जितने भरे-पूरे और सजीव हैं

वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। उन्होंने प्रकृति की रूप-छटा पर मुग्ध होकर जिस स्वाभाविक अनुराग से दृश्य-चित्रण में अपनी अलौकिक प्रतिभा को लीन किया है वह सर्वथा स्तुत्य है ! उनके प्रकृति-वर्णन पढ़ कर यह साफ झलक जायगा कि उनका निरीक्षण कितना विस्तृत और सूक्ष्म था। वाल्मीकि के वर्णन तो अत्यन्त सजीव और व्यञ्जक हैं। उन्होंने असाधारण और भव्य रूपों पर ही दृष्टि न रख कर साधारण और चिर-परिचित वस्तुओं का वर्णन भी पूर्ण तल्लीनता और रसात्मकता के साथ किया है। इंगुदी, अंकोट, तेदू, बबूल और बहेड़े आदि जंगली पेड़ों के वर्णन में भी उनके हृदय को वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा कि आम्र-मञ्जरियों, कमलों और अन्य आकर्षक पदार्थों के वर्णन में। कालिदास और भवभूति में भी ऐसी ही प्रतिभा के दर्शन होते हैं। किन्तु परवर्ती कवियों में यह बात नहीं दिखाई देती। वे उपमान आदि ढूँढने में अधिक प्रवृत्त दिखाई देते हैं, “कल्पना के सहारे चित्र के भीतर एक-एक वस्तु और व्यापार को संश्लिष्ट रूप में भरने” का उन्होंने परिचय न दिया। इसका कारण यह भी था कि वे प्रकृति का निरीक्षण वैसी बारीकी और तल्लीनता से नहीं करते थे जैसा कि प्राचीन कवि। प्राचीन कवियों की विशेषता यह थी कि उनका प्रकृति-निरीक्षण सूक्ष्म था और वे वस्तुओं और व्यापारों की योजना एक-एक पेचीले व्यौरे पर ध्यान देकर करते थे। हमारे देश की एक भी फूल-पत्ती ऐसी नहीं जो उनसे आंख बचा कर झर गई हो, एक भी पवन का झोंका ऐसा नहीं जो कि उनके अंगों का शीतल स्पर्श करके उनमें भाव-तरंगे जगाए बिना ही सीधा निकल गया हो, एक भी लहर

ऐसी नहीं जो उन्हें अपनी निर्मल-तरलता और सरल-स्वतन्त्रता का आनन्दानुभव कराए बिना मिट गई हो। वृक्ष से पृथ्वी तक झरते हुए फूल अथवा पत्ती की सारी गति-विधि का उन्होंने निरीक्षण किया था। उन्होंने अपनी प्यारी मातृ-भूमि के सुन्दर, साधारण, सुकुमार, क्रूर आदि सब रूपों को अनन्य प्रेम के साथ हृदयंगम किया था। यही कारण है कि उनके वर्णन में इतनी सम्पूर्णता, विविधता और नवीनता मिलती है। उनका समस्त प्रकृति-वर्णन उनके अनन्य और अतल मातृ-भूमि-प्रेम का परिचायक है। मातृ-भूमि के प्रेम से उस की मिट्टी भी कञ्चन हो जाती है। ऊधो जब गोपियों से मुँहकी खा कर लौटे तब उन पर प्रेम का इतना घना प्रभाव छाया हुआ था कि यमुना की रेत भी उन्हें रसीली प्रतीत हुई। कृष्ण से मिलने पर उन्होंने कहा—

झावने कुटीर कहूं रम्य यमुना के तीर
गौन रैन-रेती सी कदापि करते नहीं ।
कहै 'रत्नाकर' बिहाइ प्रेम-गाथा गूढ़
स्रोत रसना में रस और भरने नहीं ॥
गोपी ग्वाल बालनि के उमड़त आसू देखि
लेखि प्रलयागम हूं नैकु डरते नहीं ।
होतौ चिम चाव जो न राखे त्रितावन को
तजि ब्रज-गाव इतै पाव धरते नहीं ॥

—उद्धवशतक ('रत्नाकर')

यह है प्रेम का प्रभाव ! रेत में ही इतनी सरसता हो सकती है फिर सारे देश का प्रेम तो कितना अथाह होता होगा ! ऐसी ही देश-प्रीति की माधुरी से उन कवियों का हृदय सराबोर था। क्यों न हो ! जिस पवित्र आर्य्य-भूमि की पुण्य-सलिला जान्हवी, यमुना, सिन्धु, ब्रह्मपुत्रा, गोमती, क्षिप्रा आदि नदियाँ उनकी प्रेरणा मातृभूमि शस्य-श्यामल मैदानों, रमणीय उपत्यकाओं, हरी भरी घाटियों, वन-काननों में बहती हुई

आनन्द-ऊर्मियों के मञ्जुल, शीतल, कल-कल गानों से दिशाओं को गुञ्जारित करती हुई, उज्ज्वल गाढ़ नीलाकाश के कानों में प्रेम और आनन्द के सन्देश कहती हुई, सहस्रों कोसों से आकर रत्नाकर की गोद में लिपट जाती है; विश्व के गौरव-मुकुट रजत-तुपार-मण्डित अभ्रकप हिमवान् की चोटियों से रंगों की क्रीड़ा करते उदित हुए जाज्वल्यमान स्वर्ण-कान्तिपुञ्ज प्रेमारुण सूर्य की रश्मियाँ जिसके आँगन में सब से पहले ढलती हैं; सुधा-शीतल स्निग्ध-शान्त चन्द्रामृत से जिस भगवति का अंग-मञ्जन होता है; पावस-यौवन में उल्लसित, निर्भर-रूप में जहाँ की मुललित गिरिमालाओं के वक्षस्थल से वात्सल्य की मधु-दुग्ध धारा फूट पड़ती है; आनन्द-नरंगों से हिल्लोलित प्रेम-विह्वल रत्नाकर जिस कल्याणी के चरणों पर लोटपोट होते नहीं अघाता; जहाँ के शीतल मन्द और सुगन्धित पवन से लहराते, दृष्टि को थका देने वाले, नील-धूमिल गिरिमाला युक्त क्षितिज तक फैले, हरे भरे खेत, चिलचिलाती उज्ज्वल धूप, मुक्त अनन्त नीलाकाश, वर्षा-वैभव, वसन्त-विकास आदि समस्त विश्व के लोभी नेत्रों का कल्याण और सौभाग्य बने रहते हैं; ऐसी श्री, सुपमा सौन्दर्य, स्वास्थ्य और स्वर्ण से ऐश्वर्यशालिनी देव-दुर्लभा, आनन्दधाम-रत्नगर्भा शश्यामला भारत-वसुन्धरा की स्नेहमयी गोद में खेलने वाले कवियों का हृदय क्यों न उसकी ललित रूप-माधुरी से आप्लावित होकर नाच उठेगा !

वाल्मीकि, कालिदास आदि के काव्य में यही देश-प्रेम छलका पड़ता है । कालिदास का 'मेघदूत' तो

वाल्मीकि भारत-भूमि के सौन्दर्य की एक अलौकिक झाँकी है । अब इन प्राचीन कवियों के

काव्य के कुछ चुने हुए उदाहरण दिए जाते हैं । वाल्मीकि का वर्षा-वर्णन देखिये—

संस्कृत-काव्य में प्रकृति चित्रण

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं नभः प्रकाशंश्चुधनं विभाति ।
 क्वचित् क्वचित्पर्वतं संनिरुद्धं रूपं तथा शान्तं महाणवम् ॥
 व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम् ।
 मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥
 रसाकुलं पद्मसन्निभाशं प्रमुज्यते जम्बुकलं प्रकामम् ।
 अनेकवर्णं पवनावधूतं भूमौ पतव्याम्रफलं विपक्वम् ॥
 मुकामकाशं सलिलं पतद्वै मृन्मलं पत्रपटेषु लग्नम् ।
 हृष्टा विवर्णच्छ्रदना विहंगाः सुरेन्द्रदत्तं नृषिताः पिबन्ति ॥

ऊपर के चित्र में पर्वत की नदियों का सर्ज और कदम्ब से मिश्रित
 गेरू से लाल, नए गिरे जल से शीघ्रता से बहना, मोरों का बोलना,
 लोगों का भौरों के समान काले जामुनों का खाना, पके आमों का
 वायु के झोंके से टूट कर भूमि पर गिरना, पानी से बिगड़े पंखों वाले
 पक्षियों का पत्तों की नोक पर लगे सोती के समान जल का हृषित होकर
 पीना आदि व्यापार-समूह कैसी तन्मयता, सूक्ष्मता और रसात्मकता
 के साथ चित्रित हुआ है । वस्तु-व्यापारों की मंश्लिष्ट योजना यही है !

अब पञ्चवटी में लक्ष्मण द्वारा हेमन्त का दृश्य देखा जाना पड़े—

अवश्यायनिपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला !
 वनानां शोभते भूर्मिर्निविष्टतरुणातपा ॥
 भृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
 अत्यन्तनृषिनो वन्यः प्रतिमंहरते करम् ॥
 अवश्याय तमानदध्वा नीहारतमसावृताः ।
 प्रसुमा इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥
 वाष्पसंस्त्रन्नसलिला रुतविज्ञेय सारमाः ।
 हिमाद्र्यालुक्कैर्नरेः सरितो भांति साम्प्रतम् ॥
 जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकैसर कर्णिकैः ।
 नालशेषैर्हिमश्वस्तैर्न भांति कमलाकराः ॥

इसमें पाला गिरने पर कुछ गीली हुई वन-भूमि की घास का नई
 धूप पड़ने से सुशोभित होना, प्यासे जंगली हाथी का जल पीते समय

मूँड सिकोड़ना, कुहरे के अन्धकार से दिशाओं का सोई हुई-सा लगना, कुहरे से ढँके जल वाली नदियों के तट पर सारस पक्षियों का बोलना, जीर्ण-शीर्ण पत्रों वाले कमलों की केसर-कर्णिका का टूट-फूट कर छितरा जाना, और उनका पाले के कारण ध्वस्त होना आदि व्यापार-शृंखला का सूक्ष्मता से निरीक्षण करना कवि का प्रकृति-प्रेम लक्षित कराता है ।

अब महाकवि कालिदास की उज्ज्वल प्रतिभा कालिदास का परिचय उनके निम्नांकित वर्णनों से मिलेगा । देखिए, उनका प्रकृति-निरीक्षण कितना सूक्ष्म है—

आमेखलं संचरतां घनानां द्वायामधासालुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गारिण यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विधाट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
पत्र स्र तर्क्षारतयाप्रसृतः सानून् गन्धः सुरभीकरोति ॥
भार्गारथा निर्भरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पित देवदारुः ।
यदवापुरान्विष्टमुर्गः किरतैरासेव्यते भिन्नशिखीर्द्धर्बहः ॥ (कुमारसम्भव)

‘रघुवंश’ कालिदास की विश्व-विख्यात रचना है । वह अत्यन्त विशद चित्र-विधायिनी कल्पनाओं से भरा पड़ा है । उसमें भी उनकी अन्य रचनाओं की तरह वस्तुओं के रूप-विश्लेषण का इलाध्य कौशल दिखाई पड़ता है—

✓  कालान्तर श्याममृधेशु नक्तमितम्ननो रूढनृणांकुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोपि हायेषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥
रात्रावनाविधृतर्दीपभासः कान्तामुखश्री वियुतादिवापि ।
तिरस्त्रियन्ते कृमितस्तुजालैर्विच्छिन्नभ्रमप्रसरा गवाक्षाः ॥
(रघुवंश, १६वां सर्ग)

टूटे फूटे चूने वाले पुराने मंदिरों में इधर उधर उगी घास की पत्तियों तथा घरों के झरोखों में लगे मकड़ियों के जालों आदि पर

कवि की दृष्टि जाना, उसकी व्यापक रसात्मक दृष्टिसूचक है। तड़क-भड़क की चीजों पर ही दृष्टि जाना सच्ची कवि-दृष्टि नहीं।

‘रघुवंश’ में एक जगह दिलीप, उनकी पत्नी और नंदिनी गाय के मार्ग चलने का दृश्य अत्यन्त रमणीय है। वह कवि की प्रतिभा का उत्कृष्ट परिचय है—

नय्याः गुरन्यासपवित्र-पांसुमपांमुलानां धुरि कीर्त्तनीया ।
मार्ग मनुष्येश्वर धर्मपत्नी श्र तेरिवार्थ स्मृतिरवगच्छत् ॥
(रघुवंशः, द्वितीय सर्ग)

इसमें कवि का वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना द्वारा ‘विम्ब-ग्रहण’ कराने का लक्ष्य स्पष्ट प्रतीत होता है। केवल वस्तु-परिगणन नहीं, विब-ग्रहण ही कवि की प्रतिभा का सूचक है।

‘मेघदूत’ तो काव्य-प्रेमियों का कण्ठहार ही है। कालिदास उपमाएँ देने में अद्वितीय माने जाते हैं किन्तु उनके चित्र उपमाओं के कारण विकृत नहीं होते। ‘मेघदूत’ का ‘पूर्वमेघ’ अत्यन्त रमणीय चित्रों का कोष है। चिर-परिचित और साधारण प्राकृतिक रूपों, खण्डहरों,, निर्जन काननों आदि का वर्णन उन्होंने पूर्ण रस-प्रवणता के साथ किया है। ‘मेघदूत’ की कुछ झाँकियाँ देखिए—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो त्वतथा ।

वामश्चायं नदति मधुरं चातक्रान्ते सगन्धः ।

गर्भाधानक्षरणपरिचयान्नूनमावद्वक्षमालाः ।

सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥

त्वय्यायत्तं कृपिफलमितं भ्र विलासानभिज्ञैः ।

प्रातिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।

सद्यः सीरोत्कण्ठसुरभि क्षेत्रमागच्छ मालं ।

किञ्चित्पश्चाद्वज्र लघुगतिभूय एवोत्तरेण ॥

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्थरूढैः,—

राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।

जगध्वारण्येष्वधिकसुरभि गन्धमाघ्राय चोर्व्याः

सारंगास्ते जललवमुचः सूचयिर्व्यान्त मार्गम् ॥ (मेघदूत)

ऊपर के श्लोकों में, मन्द गवन का बहना, पपीहों वा चहचहाना, पाँत बाँध कर बगलियों का उड़ना और जंगलों में वर्षा का बरसना आदि नाना व्यापारों के चित्रण से कवि का ऋतु-सुलभ प्राकृतिक व्यापारों का विस्तृत और गूढ़ परिचय तथा उनके प्रति उसका असीम अनुराग झलकता है।

भवभूति ने भी प्रकृति के रूप-माधुर्य के प्रति अपने अनुराग का उतनी ही तीव्रता से परिचय दिया जैसा कि **भवभूति** कालिदास ने। किन्तु भवभूति की प्रवृत्ति शब्दालंकार की ओर विशेष थी; फिर, वह उनके भाव-प्रकाशन में बाधक नहीं होती। निविड़ बनों, निभृत सरिता-तटों और मुनसान उजाड़ खंडों तथा उनमें विचरते पशु-पक्षियों आदि का उन्होंने अत्यन्त सहृदयता के साथ वर्णन किया है। 'उत्तर रामचरित' अनेकों प्राकृतिक-चित्रों से भरा हुआ है। उदाहरण लीजिए:—

कण्डूलद्विपगण्डपिडकपणात्कम्पेन सम्पातिभि—

धर्मस्त्रमित बन्धनैः स्वकुसुमैरचिन्ति गोदावराम्।

द्यायापग्निकरमाणविष्किर मुखव्याकुष्ट कीटत्वचः

कूजत्वलान्त कपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्र माः ॥

(उत्तर रामचरितः, द्वितीय अंक)

उसी ग्रन्थ में, प्रचण्ड ग्रीष्म-मध्याह्न में भयंकर वन का दृश्य देखिए:—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चगडसत्त्वस्वनाः

स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वास प्रदीप्ताग्रयः

सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं

तृष्यद्भिः प्रतिसृष्यकैरजगर स्वेदद्रवः पीयते ॥ (उत्तर रामचरित)

उपर्युक्त चित्र में गहन वन में वन-जन्तुओं के नाद तथा सुख से फन पसार कर सोए अजगर तक तक कवि की दृष्टि गई है। इतना ही नहीं, दरार पड़ी भूमि में थोड़े जल के भरे रहने का चित्रण भी कवि की सूक्ष्म-दृष्टि-सम्पन्नता का द्योतक है।

भवभूति ने घने पेड़ों के समूहों, नीलवर्ण वाले वन से आलिंगित गोदावरी के तटों, प्रस्रवण नामक पर्वत की गुफाओं व उस पर छाये मेघों, मञ्जुभाषी मल्लिकाक्ष नामक हंसों के पंखों से कम्पित और श्वेत कमलों वाले पम्पा सरोवर के प्रदेशों, मयूर-कण्ठों से श्यामल, छाया-कुंजों, मृग समूहों व हिंसक जन्तुओं से भरे विशाल वनों का जो तन्मयकारी वर्णन किया है वह सच्चे भावुकों के हृदय को रस-मग्न कर देने वाला है। एक अंतिम चित्र और देखिए—

एते न एव गिरयो विरुक्मयूरा—

रनायेव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ।

आमंजु-यंजुल-लतानि च तान्मयूनि,

नंरन्ध्र-नील-निचुलानि सरित्त्यानि ॥

इन कवियों की रचना का रसास्वादन करने के बाद यदि हम माघ, बाण आदि की रचनाओं पर दृष्टि डाले तो उनमें उनकी अलंकार प्रियता ही विशेष लक्षित होगी। इनमें पहले के कवियों की तरह वस्तुओं और व्यापारों का स्वाभाविक व संश्लिष्ट चित्रण नहीं दीखता; उपमादि की प्रधानता है। उदाहरणार्थ—

अरुणजलवराजी मुखहस्ताग्रपादा बहुलमधुपमाला कञ्जलेंदावराज्ञी ।

अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव ॥

विततपृथुरत्रातुल्यरूपैर्मयूरैः कलशश्च गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः ।

कृपचपलविहंगालाप कोलाहलाभिर्जलनिधिजलमध्यादेश उत्तार्यतेऽर्कः ॥

(शिशुपालवधम्)

अब बाण को भी लीजिए। उनकी 'कादम्बरी' के अन्तर्गत

दण्डकारण्य, अगस्त्याश्रम तथा पंपा सरोवर आदि के प्रकृति-प्रधान वर्णन है जिनमें अलंकारों की प्रधानता है।

बाण किन्तु कवि की भाषा और वर्णन-शैली अत्यन्त मनोहर है अतः नेत्रों के आगे सुन्दर

चित्र प्रस्तुत होते हैं। इन वर्णनों में सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं का सुसम्बद्ध कथन हुआ है। इन चित्रों की सम्पूर्णता देख कर इन के लेखक की सरसता तथा प्रकृति-पर्यवेक्षण-पटुता का पता चलता है। हिन्दी अनुवाद में उसका नमूना देखिए*—

“विन्ध्याचल की अटवी पूर्व और पश्चिम समुद्र के किनारों तक चली गई है। उसमें जंगली हाथियों के मद-जल के सिंचन में वृक्षों का संवर्धन हुआ है। वहा मद-मत्त कुरर पत्तों मिच के पत्तों को कुतरते हैं, हाथी के बच्चों की मूंडों से मसले गए तमाल के पत्तों की सुगंध फैल रहा है। वहा लता-मंडपों की भूमि तोता के काटे अनारों के रस से गीली रहती है। उनमें सुपारी के वृक्षों पर पान की बेलें चढ़ रही हैं, उनमें यात्रियों ने लौंग के पत्तों के विद्यौने बिछाए हैं और उनके किनारे-किनारे बहुत पुराने नारियल, केतकी, करीर और वकुल लगे हुए हैं। उस वन में इलायची की लताओं से अधेरा हो रहा है और उनसे गज-मद के समान सुगंध निकलने के कारण ऐसा मालूम होता है मानों उन्मत्त हाथियों के गंड-स्थल से भरते हुए मद-जल से मिंचाई हुई हो.....(पंपासर वर्णन) उसका जल बार-बार स्नान करती हुई भालनियों के कुच-कलशों से हिलकारा जाता है। उसके भीतर कुमुद, कुवलय और कल्हार के फूल खिले हुए हैं। प्रफुल्लित कमलों में से टपकती हुई मधु की बूंदों से उसके जल से चाद बन रहे हैं”

अमरु संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। नायिकाओं की

अंगाकृतियों, मुद्राओं और उनकी रूप-छटा

अमरु का वर्णन उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्मता और

तल्लीनता के साथ किया है। उनके वर्णन

पढ़ कर आँखों के आगे चित्र उपस्थित हो जाते हैं। बपरिम्भ का

* डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा द्वारा सम्पादित ‘गद्य-काव्य-तरंगिणी’ के ‘विन्ध्याटवी’ नामक पाठ से उद्धृत।

सुन्दर वर्णन देविए—

मन्दं मुद्रितपांशवः परिपतज्झंकारभंभामरुद्वेगध्वस्त कुटीरकान्तरगतच्छिद्रेषु
लब्धान्तराः । कर्मव्यग्रकुटुम्बिनीकुचतटस्वेच्छिदः प्रावृषः प्रारम्भे निपतन्ति कन्दल-
दलोलाम्ना पयोविन्दवः (अमरुशतक, ४८)

भावार्थः—धीरे धीरे धूल को नीचे बैठाने, झंकार करती आँधी के वेग से ध्वंस किए गए तृणकुटीरों के मध्यगत विवरों में स्थान पाते, घर के काम में लगी हुई कामिनियों के कुचों के पसीने को हटते, केले के पत्तों को उल्लसित करते जल-विन्दु वर्षा-ऋतु के आरंभ में बरसते हैं ।

वस्तु-व्यापारों की संश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण यही है ! ऊपर के चित्र में आए “परिपतज्झंकारभंभामरुद्वेग ……” में पत्तों डालियों आदि में आँधी के कारण ध्वनि उत्पन्न होने की संवेदना पूर्ण भावुकता के साथ कलाई गई है ।

ऊपर संस्कृत की, प्राचीन और परवर्ती दोनों कालों की रचनाओं के उदाहरण दिये गये हैं । उनकी काव्य-शैली में उत्तरोत्तर परिवर्तन अलंकारों के ही कारण आया ।

अब हम आगामी खंड में अंग्रेज कवियों की प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओं पर कुछ विचार करेंगे ।

(ख) अंग्रेजी काव्य में प्रकृति-चित्रण

ईसा की अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व अंग्रेजी के कवि (मिल्टन से पोप तक) छन्द, भाषा, प्राचीन अंग्रेजी काव्य भाव, अलंकार आदि की दृष्टि से प्रायः रूढ़ि-प्रिय ही रहे । स्वभाविक-स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के आविर्भाव के पश्चात् वहाँ के कवियों की

काव्य-शैली में अधिक स्वच्छन्दता, स्वाभाविकता और गहनता आई । १७३० ई० के बाद से वहाँ के काव्य में नवीन तत्वों का समावेश हुआ ।* प्रौढ़ चित्र-विधाश्रिणी कल्पना, अभिव्यंजना का लाक्षणिक वैचित्र्य, रंगीन-चित्रमयी व्यंजक भाषा, और नूतनगति-विधि-शील व्यंजना का पूर्ण कौशल उक्त दो शताब्दियों में दिखाई पड़ा ।

मिल्टन (Milton) क्लासिकल काल का कवि है । हिन्दी के कवि केशव की ही तरह उसने प्रकृति को अपनी आँखों से नहीं, अध्ययन के ही माध्यम से देखा । फूलों का परिगणन देखिए :—

Bring the rathe primrose that forsaken dies,
The tufted crow-toe, and pale jessamine,
The white pink, and the pansy freaked with jet,
The glowing violet,
The musk-rose, and the well attired woodbine,
With Cowslips wan that hang the pensive head,
And every flower that sad embroidery wears :

फूलों का वर्णन प्रस्तुत करण प्रसंग से संगत है किन्तु ये सब फूल एक ही ऋतु में उत्पन्न नहीं होते । मिल्टन की सुप्रसिद्ध कविता 'Lycidas' (जिससे यह अवतरण उद्धृत किया गया है) पर डा० जानसन (Johnson) का बुरी तरह पिल पड़ना प्रसिद्ध ही है ।

ड्राइडन और पोप (Dryden and Pope) तक कविता रुढ़ि-ग्रस्त ही रही । पोप के समय की काव्य-रीति की परम्परा आगे ग्रे (Gray) और कॉलिन्स (Collins) तक जारी रही । थामसन (Thompson) और जान्सन (Johnson) तक भी उसके लक्षण मिलते हैं । फुटकरिए कवियों में तो वह स्पष्ट ही लक्षित होती है । × यंग, थॉमसन, कॉलिन्स, ग्रे, क्रेव, काउपर और बर्न्स आदि कवियों में प्रकृतिवाद (Naturalism) का विकास होता रहा और आगे

* Naturalism in English poetry (S. A. Brooke) Page 10.

× ,, Page 10

चलकर वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, कॉलरिज आदि में वह अपनी चरम प्रौढ़ता को पहुँच गया। यह प्रकृतिवाद क्या है, इसे भी कुछ समझ लेना चाहिए।

स्वाभाविक-स्वच्छन्दतावाद और प्रकृतिवाद दोनों परस्पर भिन्न हैं।

पहला दूसरे की शाखा मात्र है। प्रकृति काव्य

स्वाभाविक

का रोमान्टिक काव्य से कई बातों में सम्बन्ध

स्वच्छन्दतावाद और

नहीं। रोमान्टिक काव्य में आदर्श-वाद ही

प्रकृतिवाद

प्रधान रहता है। वह आने आदर्श अतीत की

ओर देखता है और वहीं जीवन के चरम

सौन्दर्य का दर्शन करता है। प्राचीन युद्ध-काल के वीरोत्साहपूर्ण जीवन में सौन्दर्य और उल्लास का दर्शन कर उसी अतीत काल को वह आदर्श समझता है तथा संसार में फिर से एक बार वैसी ही जीवन-गढ़ति के लौटने की कामना करता है। रोमान्टिक कवि का विषय प्राचीन युगों के लोगों का समस्त क्रिया-कलाप है जिसमें उनका सच्चा पुरुषार्थ, उदारता, युद्ध-प्रियता, चरित्र की उज्ज्वलता, कर्तव्य-परायणता, निर्भीकता, वीरोचित आन, ठाठ-बाट, राग-रंग, उत्सव, कला आदि सभी का समावेश हो जाता है।* किन्तु प्रकृतिवादी (Naturalist) कवि का विषय कठोर राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के बीच पिसता हुआ, समाज का दलित वर्ग है। अतः वह दलित वर्ग और शोषक पूँजीपति वर्ग के बीच का घोर वैषम्य अंकित करता है। इसके अतिरिक्त उसका विषय बाह्य प्रकृति का, जैसी वह उसकी आँखों के सामने दिखाई दे रही है, यथातथ्य चित्रण करना भी है जिसमें पशु-पक्षी, पालतू जानवर और मनुष्यों का तथा उनके प्रीतिपूर्ण पारस्परिक सम्बन्धों का सच्चा स्वरूप अंकित किया जाता है। दोनों का स्पष्ट अंतर यह है :—

"It spoke of animals, birds, and beasts and of man in his relation to them. It described nature as she lay before the poet's eyes. In plain words, with none of those metaphysical and spiritual ideas which the romantic connected with her."*

काव्य-परम्परा की दृष्टि से इस प्रकृतिवाद का अर्थ हुआ—काव्य का, कृत्रिम समाज और कृत्रिम साहित्य से, घोर प्रतिक्रिया के रूप में, स्वाभाविकता, सादगी और सामान्य मानव-प्रकृति की सार्वभौम भाव-भूमि पर लौट आता। अतः उसमें केवल नगर में निवास करने वाले मनुष्य और उनके जीवन का ही नहीं, अपितु वन्य और ग्रामीण जीवन का भी समावेश हुआ। साथ ही उच्च और निम्न सामाजिक वर्गों, शिक्षितों और अशिक्षितों सभी का उसमें अनेक-विषय-स्पर्शी प्रसार हुआ। ×

इस प्रकार अंग्रेजी प्रकृतिवाद का अर्थ समझ कर अब हम उसके तीन चार प्रतिनिधि कवियों की कुछ रचनाओं में उसके स्वरूप को देखेंगे।

अंग्रेजी के प्रकृति-उपासक कवियों में वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, ब्राउनिंग, टेनीसन, कॉलरिज आदि मुख्य हैं।

वर्ड्सवर्थ पर इन प्रकृति की अनुराग-माधुरी का रसास्वादन करने वालों में से सबसे ऊँचा स्वर वर्ड्सवर्थ का था। प्रकृति की अनन्त रमणीय वीथियों में जिस स्वाभाविक उल्लास से उसका हृदय रमा वह अभिनन्दनीय है। किसान, भोंपड़ी, रेत, चट्टान, नाला, आकाश, बादल, खेत, कुआँ, झाड़ी, घास, पहाड़, निर्भर, समुद्र, कुंज लता, नक्षत्र आदि सभी रूपों में उसके हृदय ने सौन्दर्य का साक्षात्कार किया। प्रौढ़ावस्था में उसमें रहस्य-भावना का भी कुछ स्फुरण हुआ। उसका हृदय सदैव

*...S. A. Brooke. "Naturalism in English Poetry" Page 32.
× Ibid, Page 31.

उल्लासपूर्ण रहा। किन्तु जब उसकी दृष्टि मानव जीवन के कष्ट पक्षों की ओर पड़ती है तब वह मनुष्य-हृदय के चिर-निगूढ़ गहनतम तलों में पहुँच कर मानव-सुलभ सहानुभूति, दया, उदारता, कृपा, और ममता की ऐसी हृदय द्रावक वाणी में बोलता है कि समस्त प्राणी-मात्र एक अटूट स्नेह-सूत्र में जकड़ा हुआ जान पड़ता है। हमारे जीवन का परिचालन करने वाली नियति की अन्ध-शक्तियों की मानव के साथ की जाने वाली निष्ठुर-क्रीड़ा को तथा मानवोचित ह्रास-अश्रु, जन्म मरण आदि सबको उसने स्वीकार किया। प्राकृतिक द्वंद्वों के बीच चलते जीवन को, बिना किसी विद्रोह-भावना के, स्वीकार करना ही वह श्रेयस्कर समझता है—

Thanks to the human heart by which we live,
Thanks to its tenderness, its joys and fears,
To me, the meanest flower that blows can give
Thoughts that do often lie too deep for tears.

शैली को भी हिम, पाला, लहरों आदि सब रूपों के साथ प्रकृति प्रिय है :—

'I love snow and all the forms—
Of the radiant frost ;
I love waves, and winds, and storms,
Everything almost
Which is Nature's and may be
Untained by man's misery.

(Invocation : Shelley)

वर्षा-संवर्ध की आँख प्रकृति-दर्शन के लिए इतनी सजग रहती है कि लन्दन नगर के बीच स्थित 'वेस्टमिन्स्टर ब्रिज' से भी उसकी दृष्टि थिएटरों, गिरजाघरों, जहाजों, गुम्बदों, मीनारों, और प्रासादों आदि के आगे फैले खेतों के पार सूर्योदय के दृश्य पर ही टिकती है। लन्दन नगर भी उसे आलौकिक-स्वर्गीय-ज्योति से जगमगाता हुआ लगा :—

Dear God, the very houses seem asleep
And all that mighty heart is lying still.

हम रात दिन कमाने-खाने में ही लगे रहते हैं और माया में ऐसी बुरी तरह फँसे हैं कि आत्म-चिन्तन तो दूर रहा, प्रकृति को फूटी आंखों भी नहीं देखते। इस पर कवि का क्षोभ देखिए :—

The world is too much with us ; late and soon
Getting and spending, we lay waste our powers
Little we see in Nature that is ours ;
We have given our hearts away, a sordid boon !

और आगे चलकर वह अपने अटूट प्रकृति-प्रेम का परिचय यों कह कर देता है कि हे भगवान् ! कभी कभी मेरे मन में आती है कि मैं पाषाण-काल के आस्ट्रिक पत्थर-पूजकों की तरह बन जाऊँ जिससे कम से कम मुझे इस समुद्र में किसी अलौकिक शक्ति अथवा देवता के निवास का निश्चय तो बना रहे—चाहे फिर वह अंध-विश्वास ही क्यों न हो !

Great God ! I would rather be.
A pagan suckled in a creed outworn,
So might I, standing on this pleasant lea,
Have glimpses that would make me less forlorn ;
Have sight of Proteus rising from the sea ;
Or hear old Triton blow his wreath'd horn.

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि के स्वभाविक प्रकृति-प्रेम की चरम दशाकांक्षा दिखाई देती है !

कवि प्रकृति के शान्त रूप ही देखना पसन्द करता है। कम्बरलैंड के समुद्र-तट पर लिखी कविता में (Easter Sunday, April 7) यह लक्षित होता है—

निर्जन कानन के अनन्त नील गम्भीर आकाश के नीचे, दृष्टि की परिधि के पार दूर तक फैले अथाह और अकूल समुद्र के तट पर, सान्ध्य-पवन के झकोरों में लहराती हुई घास से निकली क्षीण मर्मर-ध्वनि वर्ड्सवर्थ को महान शक्तिशाली समुद्र की नम्र और सुशील वाणी जान पड़ती है :—

.. The boundless plain of waters seems to lie :—

Comes that low sound from breezes rustling over
The grass-crowned headland that conceals the shore ?
No ; 't is the earth-voice of the mighty sea,
Whispering how meek and gentle he can be !

अब शेली की प्रकृति-सम्बन्धी रचना पर थोड़ा दृष्टिपात किया जाय । स्वतन्त्रता का उन्मत्त उपासक होने के कारण उस में विद्रोह, प्रचण्डता और अशान्ति ही अधिक दिखाई देती है । रूढ़ि-ग्रस्त जरा-जीर्ण समाज को एक स्वतन्त्र आदर्श मानव समाज के रूप में परिवर्तित होते देखने की कामना उसमें प्रबल है । समाज के बीच फैले अन्याय, अत्याचार, पाषण्ड आदि से क्षुब्ध उसके हृदय की उग्र दशा उसकी बहुत सी कविताओं में प्रतिबिम्बित होती है । ऐसी कविताओं में "Ode to the West Wind" नाम की भी एक कविता है । उसमें वह पश्चिमी भ्रम से प्रार्थना करता है कि वह उसके हृदय के ओजपूर्ण भावों को अपने भोकों में लेकर समस्त संसार में फैला दे ताकि उसमें नव-जीवन का संचार हो और नवीन सभ्यता का नूतन प्रभात उदित हो ।

Make me thy lyre, even as the forest is :

What if my leaves are falling like its own !.....

.....Drive my dead thoughts over the universe

Like withered leaves to quicken a new birth !

And, by the incantation of this verse,

Scatter, as from an unextinguished hearth

Ashes and sparks, my words among mankind !

Be through my lips to unawakened earth

The trumpet of a prophecy ! O wind,

If winter comes, can Spring be far behind ?

इसमें कवि को अपना सम्पूर्ण अस्तित्व अज्ञानान्धकार में सुप्त

मानव-समाज के अस्तित्व में पूर्णतया विलीन करके समाज की सेवा करने की उच्च भावनापूर्ण लगन के साथ आत्मोत्सर्ग करना ही कल्याण-कर लगा है। वह असत् शक्तियों का नाश और सत् की विजय संसार के बीच देखना चाहता है किन्तु धर्म-ज्योति को अधर्म के अन्धकार के द्वारा बार-बार पराजित होते हुए देख वह अत्यन्त निराश होता है और अंधकार की पराजय मनुष्य के प्रयत्नों द्वारा न हो सकती देख प्रकृति की रुद्र शक्तियों का आह्वान करता है। इसीलिए कुछ अंग्रेज समीक्षकों ने लिखा है कि शेली आकाश का कवि है और वर्डस्वर्थ पृथ्वी का। शेली जिस असत् अथवा अंधकार को फाड़कर सत् अथवा मंगल की प्रतिष्ठा चाहता है उसके लिए वह, मानुषी शक्ति को अपर्याप्त देख, प्राकृतिक शक्तियों को पुकारता है।

शेली का हृदय प्रकृति के साथ एकाकार हो गया है। नगरों की भीड़ व कोलाहल में प्रकृति के आनन्द में डूबने का वह अवसर कहाँ ? इसलिए कवि प्रकृति प्रेम के वशीभूत हो कर नगरों से दूर प्रकृति के स्नेहचल में जा दुबकना चाहता है। देखिए :—

Away, away from men and towns,
To the wild wood and the downs—
To the silent wilderness
Where the soul need not repress
Its music, lest it should not find
An echo in another's mind,
While the touch of Nature's art
Harmonises heart to heart.

Shelley : "The Invitation"

पलायनवाद की यह प्रवृत्ति आगे चल कर स्विनबर्न (Swinburne) आदि कवियों में भी दिखाई पड़ी। हिन्दी में 'प्रसाद' व बच्चन में भी इस रोमांटिक भावना की झलक है। 'ले चल मुझे भुलावा दे कर' प्रसाद का गीत प्रसिद्ध ही है।

कीट्स

सुदूर गिरिमाला की हरी-भरी तलहटियों में
वासन्ती धूप में लहलहाती पुलकाकुल रंगीन
तितलियों की गतिवाली स्वप्निल मृदुल कल्पना
लिए कला-कुमार कीट्स (Keats) सौन्दर्य-लोक में ही विचरता
रहा। प्रकृति के सुकुमार रूपों के प्रति कीट्स का कितना अनुराग था
इसका परिचय उनकी एक उपमा से लगेगा। उसमें 'प्रभाव-साम्य' पर
अत्यन्त मार्मिक दृष्टि रखी गई है। एन्डिमियोन (Endymion)
नाम के उसके एक कल्पनात्मक प्रबन्ध-काव्य में नायक एन्डिमियोन के
एक सुन्दरी पर मोहित हो जाने पर उसकी बहिन उसका मोह निवारण
करती है। प्रेम के गम्भीर प्रभाव से बोझल उसकी बन्द पलकें, बहिन
के उपदेश के कारण, खुलती तो हैं पर ऐसे, मानो फूलों का रस पीने
में मग्न उनींदी तितलियों की पाँखों के बीच में से वसन्त-पवन का
भोंका निकल जाय और वे थोड़ी सी फैल कर रह जायँ :—

Yet, his eyelids
Widened a little, as when zephyr bids
A little breeze to creep between the fans
Of careless butterflies :

(Endymion Book I, lines 762-765)

यह काव्य अत्यन्त कोमल और रंगीन कल्पनाओं, नवीन उद्भाव-
नाओं और सौन्दर्यपूर्ण चित्रों से भरा पड़ा है जिसका आनन्द पढ़ने से
ही मिल सकता है।

“बुलबुल के प्रति” (Ode to the Nightingale) भी कीट्स
की बहुत प्रसिद्ध रचना है। उसमें उसने पूर्ण भाव-सत्यता के साथ
हृदय की गम्भीरतम उदास भावनाओं को वाणी दी है। इसी कविता
में गूढ़ प्रकृति-प्रेम और विस्तृत निरीक्षण लक्षित होता है—

I cannot see what flowers are at my feet,
Nor what soft incense hangs upon the boughs,
But, in embalmed darkness, guess each sweet
Wherewith the seasonable month endows

The grass, the thicket, and the fruit-tree wild ;
White haw thorn, and the pastoral eglantine ;
Fast-fading violets cover'd up in leaves ;
And mid-May's eldest child
The coming musk-rose, full of dewy wine
The murmurous haunt of flies on summer eves.

कीट्स की प्रसिद्धि उसकी चतुर्दशपदियों (Sonnets) के कारण अधिक है जिनमें मार्मिक प्राकृतिक-रूपों की योजना हुई है ।

टेनीसन (Tennyson) के विषय में यह

टेनीसन कहा जाता है कि प्रकृति के क्षेत्र का कोई भी

वर्ण और ध्वनि ऐसी नहीं जिसका उसने वर्णन

न किया हो । उसकी 'नाला' (Brook) शीर्षकिनी कविता में कवि ने नाले के द्वारा ही उसकी कल-कल, छल-छल क्रीड़ा, उल्लास, चपलता और मुक्तता की अत्यन्त अनुरञ्जनकारी संवेदना कराई है । आंखों के आगे उसका सारा प्रवाह-विलास और कानों में ध्वनि आती सी जान पड़ती है—

I chatter over stony ways
In little sharps and trebles
I bubble into eddying bays
I babble on the pebbles. × ×
I chatter, chatter as I flow
To join the brimming river,
For men may come and men may go
But I go on for ever.

* * *

I steal by lawns and grassy plots,
I slide by hazel cover .
I move the sweet forget-me-nots
That grow for happy lovers.
I slip, I slide, I gloom, I glance
Among my skimming swallows ;
I make the netted sun-beam dance
Against my sandy swallows.

I murmur under moon and stars
In brambly wilderness
I linger by my singly bars
I loiter round my cresses.

आर्नल्ड

अब हम प्राकृतिक दृश्य का अत्यन्त सूक्ष्म और
भरा-पूरा चित्रण करने में पूर्ण सिद्ध-हस्त
कवि मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew

Arnold) का एक सुन्दर उद्धरण लेकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे ।
आर्नल्ड दृश्य की सम्पूर्ण परिस्थिति को एक एक ब्यौरे के साथ स्पष्ट
करते हैं । आचार्य्य शुबल जी सम्भवतः ऐसे ही पेचीले ब्यौरों के साथ
दृश्य-चित्रण किता जाना पसंद करते थे :—

Screen'd is this nook o'er the high, half-reaped field,
and here till sun-down, shepherd, will I be !
Through the thick corn the scarlet poppies peep,
And round green roots and yellowing stalks I see
Pale blue convolvulus in tendrils creep ;
And air-swept lindens yield
Their scent, and rustle down their perfumed showers
Of bloom on the bent grass where I am laid,
And bower me from the August sun with shade ;
And the eye travels down to Oxford towers.

—“The scholar Gipsy”

इस अत्यन्त सुन्दर चित्रोपम पद्यांश का भाषान्तर यों किया जा
सकता है—

हे गड़रिये मित्र, कुछ ऊंचाई पर स्थित इस अधूरे कटे खेत के
एक ओर एकान्त में मैं सांझ होने तक तुम्हें यहीं मिलूँगा । भरे-पूरे
पके अनाज के बालों के अन्तरालों में से रंगीन पौदे मुझे यहां से उनकी
गोलाकार हरी जड़ों और कुछ-कुछ पीले पड़े डंठलों के साथ दिखाई दे
रहे हैं । मन्द पवन में हिलते लिन्डन के पेड़ों की सुगंध चारों ओर फूट
रही है जिनके खूब खिले सुगंधी फूल हवा से लहराती हुई घास पर,

जिसमें कि मैं लेटा हूँ, रह रह कर भरते रहते हैं। उन पेड़ों की छाया मुझे अगस्त की कड़ी धूप से भी बचा रही है। मैं मजे से लेटा हूँ और सामने दूरी पर आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय के कॉलेजों के गुम्बद भी मुझे दिखाई दे रहे हैं।

अब स्थानाभाव से हम इतना ही कह कर
विषय-विस्तार समाप्त करते हैं कि इन अंग्रेज कवियों ने अपने देश के खेतों, पहाड़ों, नदियों, बगीचों, काननों आदि का ही नहीं, गिरजाघरों की घंटियों से ध्वनित प्रभात की वनस्थलियों, अंधेरी रात में जाती हुई गाड़ियों, शीत-स्तब्ध अन्धकार-पूर्ण रात्रियों में कंटीली भाड़ियों में भंकारते भीगुरों, पतझड़ की भंभा में उड़ते पीले, कथई और तांबे के से रंग के जीर्ण-शीर्ण मुरझाए पत्तों, क्षितिज पर उठी हुई नगर के मिलों की सुदूर चिमनियों से निकलती धूम्र-मालाओं, अपने गांव के बाहर चुपचाप बहते जाते नालों के तट पर उगी कंटीली भाड़ियों, घास-पातों, पहाड़ी सूर्यास्तों, भेड़-बकरियों, हल-भोंपड़ों और धूल से सने बच्चों आदि सब रूपों का पूर्ण तल्लीनता, रस-प्रवणता और सहृदयता के साथ वर्णन किया है। अंग्रेजी काव्य-साहित्य का यह अंग निःसन्देह बहुत सम्पन्न है।

चतुर्थ प्रकरण

हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण

(प्राचीन कविता)

विगत एक हजार वर्षों के हिन्दी-साहित्य पर दृष्टि डालने पर हमें यह बात आश्चर्य के साथ देखनी पड़ती है कि चन्द-बरदाई से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक प्रकृति के प्रति उस स्वतन्त्र अनुराग की व्यंजना नहीं के बराबर है जो काव्य में प्रकृति के जितने भी प्रयोग हैं उन सब के मूल में है, अतः सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। अलंकार, वातावरण, पृष्ठभूमि, प्रतीक आदि में कवि का प्रकृति के प्रति रुझाव अवश्य कुछ सूचित होता है किन्तु पहली बात तो यह है कि वह परोक्ष होता है और फिर यदि परम्परागत रूप-व्यापारों से हट कर अपने निजी निरीक्षण के आधार पर उनमें कोई विशिष्टता उत्पन्न न की या उनकी कोई नवीन योजना न की तो उन सब प्रयोगों में जड़ता, निर्जीवता या परम्पराभक्तता ही मिलेगी। प्रकृति के प्रति पूर्ण स्वतन्त्र व्यंजना की दिशा में हम भारतेन्दु को आरंभिक उड़ान के लिए फड़फड़ाहट भरते हुए पाते हैं; अद्यपि उनमें भी अलंकार-प्रियता के प्राचीन संस्कार पूर्णतया विद्यमान है। जो हो, प्रकृति-निरीक्षण की मौलिकता व चित्रण की दृष्टि से हम भारतेन्दु को प्राचीन व नवीन की सीमा-रेखा मान सकते हैं। प्रकृति का मुख्यतः उद्दीपनगत रूप ग्रहण करने की दृष्टि से चन्द से लेकर भारतेन्दु के उदय तक का काव्य आलोच्य विषय की दृष्टि से प्राचीन कविता की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है—मोटे हिसाब से ही, क्योंकि मुख्यतः उद्दीपन रूप का ग्रहण होते हुए भी अलंकार, रहस्य, प्रतीक आदि रूपों का भी ग्रहण है जिनसे कवियों का न्यूनाधिक प्रकृति-निरीक्षण भलकता है।

प्राचीन संस्कृत कवियों तथा यूरोपीय कवियों की तरह मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में रसात्मक विशद वर्णन करने की चाल हिन्दी में पहले कभी नहीं रही। इसका कारण प्रधानतः यह था कि परवर्ती संस्कृत कवियों का भी ध्यान ऐसे वर्णनों से हटता जा रहा था। अतः वही परम्परा हिन्दी में भी आ गई। चन्द से लेकर भारतेन्दु तक काव्य-शास्त्र के अनुकूल ही प्रकृति का चित्रण हुआ। प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति आलम्बन-रूप में गृहीत न करके उद्दीपन रूप में की; अतएव कालिदास के बाद के संस्कृत कवियों तथा हिन्दी के प्राचीन और मध्यकालीन कवियों ने प्रकृति का उद्दीपनात्मक उपयोग ही किया। पर यह भी मानना पड़ेगा कि कुछ रस-सिद्ध कवियों ने उद्दीपन के रूप में भी उसका अत्यन्त स्वाभाविक और मार्मिक प्रयोग किया।

वीरगाथा काल

चन्द के समय देश शत्रुओं से आक्रान्त था। अनवरत युद्ध की लपटों और पारस्परिक वैमनस्य से वह नष्ट हुआ जा रहा था। अतः ऐसे काल में काव्य-शैली में कोई नवीन सुधार सम्भव नहीं था। उस समय काव्य वीर-रस प्रधान था जिसमें 'शृंगार' का भी पुट रहता था। राजाओं के शौर्य और वीरोत्साहपूर्ण चरित्रों का गुणगान ही कविकर्म रहा। अतः कविता बाह्यार्थनिरूपिणी ही रही। प्रकृति का उपयोग केवल अप्रस्तुत-विधान के ही अन्तर्गत था। तलवार उठा कर तय्यार रहने वाले कवियों को वसन्त की अमराइयों में ढलती चाँदनी में गीत गाने का अवकाश न था। रूपक और उपमा के लिये चन्द्र, मयूर, शुक, अलि आदि उपमानों का रूढ़ ग्रहण बना रहा।

उदाहरणार्थ—

कुटिल केस सुदेस पोह परिचियत पिकरसद ।

कमलगंध, वय संध, हंस गति चलति मंद मद्र ॥

सेत वस्त्र सोहैं सरार, नष स्वाति बुंद जस ।
 भ्रमर भवहिं भुल्लहि सुभाव, मकरन्द वास रस ॥
 नयन निरखि सुख पाय सुक, यह सुदिव्य मूरति रचिय ।
 उमा प्रसाद हर हेरियत, मिलहि राज प्रथिराज बर ॥

* * *

उठि राज प्रथिराज बाग मनो लग्न धीर नट ।
 कहत नेग मनबेग लगत मनो बाजु भट्ट घट ॥
 थकि रहे सूर कौतिल गगन, रँगन मगन भई शोन धर ।
 हृदि हरपि वीर जगो हुलसि, हुरेउ रंग नव रत्न वर ॥

भक्ति-काल

निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा में प्रकृति का प्रयोग मुख्यतः उद्दीपन (आध्यात्मिक प्रेम में), अलंकार, उपदेश, रहस्य व प्रतीक के रूप में ही हुआ है । कबीर, रैदास, नानक, सुन्दर आदि सभी ज्ञानमार्गी निर्गुणिए सन्त कवियों के काव्य में उसका यही रूप प्राप्त होता है । कबीर के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

उद्दीपन :— दौ लागी साइर जलया, पंपी बैठे आइ ।
 दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाय ॥

* * *

अगनि जु लागी नीर में कंदू जलिया झारि ।
 नैनाना नीभर लाइया, रहद बहै निस याम ।
 पपीहा ज्यूं पिव पिव करी, कबरु मिलहुगे राम ॥ (उपमा)
 माली आवस देखि करि, कलियों करी पुकार ।
 फूले फूले चुणि लिये, काल्हि हमारी बार ॥ (अन्योक्ति)

उपदेश :— बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल ।
 जे नर बकरी खात हैं ताको कौन हवाल ॥

रहस्य :— चुवत अमीरस भरत ताल जहँ, शब्द उठै असमाना हो ।
 सरिता उमड़ि सिन्धु को सोखै, नहिं कछु जात बखानी हो ॥
 चाद-सुरज-तारागण नहिं वहँ, नहिं वहँ रैन विहानी हो ।
 बाजे बजै सितार-बांसुरी, रंगकार मृदुवानी हो ॥

प्रतीक :— बाहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे हाँ नाल सरोवर पानी ।
 जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास ॥

ध्यान देने की बात यह है कि निर्गुण भक्त-कवियों की साधना अन्तर्मुखी थी। अतः प्रकृति के पदार्थों पर उनकी दृष्टि बाह्य आकर्षण के कारण न टिक कर मानव जीवन के किसी गंभीर तथ्य या आध्यात्मिक भावना के स्पष्टीकरण व मार्मिक प्रकाश के लिए— सूक्ष्म भावना के ठोस आधार के लिए— ही टिकती थी। प्राकृतिक वस्तु या व्यापार केवल भावाभिव्यक्ति के माध्यम या निमित्त हैं, उनके प्रति स्वतन्त्र प्रेम की व्यंजना कहीं नहीं दिख ई पड़ती। मर्मस्पर्शी प्रतीकों का प्रयोग भी इनकी एक बड़ी विशेषता है। नलिनी जीवात्मा का, सरोवर संसार का, रात अज्ञान व जड़ता का, चातक प्रेम का, दीपक ज्ञान का प्रतीक है। सूफियों की तरह कबीर भी समस्त प्रकृति को वियोगाग्नि में जलती हुई अनुभव करते हैं। कबीर अपने ज्ञानानुभव को विरोधात्मक प्राकृतिक चमत्कारमूलक उलटबासियों के द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए भी प्रसिद्ध हैं। यथा—

समंदर लागी आगि, नदियां जलि कोइला भई ।
 देखि कबीरा जागि, मँझी रूपां चढ़ि गई ॥

भवित काव्य की प्रेमाश्रयी शाखा में प्रकृति का बहुत माहात्म्य है। जायसी इस शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके काव्य पर सूफीमत का प्रभाव है। सूफी फकीर निर्गुण परमात्मा को प्रेम में ढूँढ़ते हैं। उनके सिद्धांत के अनुसार सारी सृष्टि परमात्मा से बिछुड़ी हुई है और उसका एक एक कण अपने प्रियतम के महामिलन के लिए बेचैन है। उर्दू-फारसी की शायरी में यह 'जुज' का 'कुल' से मिलने की बेचैनी

कहा जाता है। सूरज, चाँद, समुद्र, लहर, पवन, पुष्प, पशु-पक्षी पेड़-पौधे सभी चिर विरह में जल रहे हैं, भटक रहे हैं। सूफियों ने जिस विरह को कल्पना से ललित व प्रेम की दाह व पीर से सप्राण बना दिया है वह तथ्य रूप में भारतीय उपनिषदों में विद्यमान है—

स ईक्षा कथंन्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति ।
स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं
यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं मद्यपानेन भ्य-
पानितं यदि शिशनेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ।*

वह परमात्मा हम सब में व्याप्त है। उसके स्वरूप को विस्मृत कर केवल भौतिक प्रपंचों में जीवात्मा का भटकते रहना ही मानो दुःखदैन्य रूप विरह का अनुभव करना है।

प्राचीन यूनानियों में भी यह भावना प्रचलित थी किन्तु कुछ बदले हुए रूप में। आध्यात्मिक मह मिलन की तीव्र वासना का आभास भौतिक प्राणियों के प्रेम-सम्बन्धों के बीच अनुभव किया गया। अपने आप में प्रत्येक व्यक्ति अधूरा है। पूर्ण परितृप्ति के लिए वह अपने पूरक को पाकर ही सुखी हो सकता है। X

फ़ारसी के ख्वाजा फ़रीदुद्दीन अत्तार, जलालुद्दीन रूमी, हकीम सनाई, गंजवी व उर्दू के मीर, सौदा, दर्द और असर की शायरी में यह विरह-वेदना व जलन अपने तीव्रतम रूप में प्रकट हुई है। कवि-शिरोमणि तुलसीदास ने भी चराचर की इस अमर विरह-भावना को 'विनयपत्रिका' के एक पद में व्यक्त किया है—

सुनु मन मूढ़ ! सिखावन मेरो ।

हरि-पद-विमुख लख्यो न काहु सुख, सठ ! यह समुझ सवेरो ॥

बिछुरे ससि रवि मन नैननि तैं, पावत दुख बहुतेरो ।

अमृत स्मृति निसि-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो ॥

* ऐतरेयोपनिषद्, ३।११

X Plato : The Symposium (W. Hamilton's translation, Penguin classics : 1951) page 59-62.

जद्यपि अति पुनीत सुर-सरिता, तिहुं पुर सुजग घनेरो ।
 तजे चरन अजहूँ न मिश्रत नित, बहिवो ताहू केरो ॥
 इसी प्रकार 'सूर' में भी ऐसी भावना कहीं कहीं मिल जाती है—
 बिरही कहँ लौ आपु सँभारै ।
 जब तै गंग परा हरिपद तै बहिवो नाहिं निवारै ॥
 नयनन ते रवि बिछुरि भँवत रहे ससि अजहूँ तन गारै ।
 नाभि तै बिछुरे कमल कंट भए, सिंधु भए जरि छारै ॥

अभिप्राय यह कि विरह की यह भावना सूफियों की केन्द्रीय भावना है । इस भावना ने ही जायसी के प्रकृति-निरूपण के स्वरूप को बहुत कुछ निर्धारित व नियन्त्रित कर दिया है । प्रकृति के उद्दीपनगत रूप में प्रकृति मानव-प्रसंग में ही निरूपित होती है । जायसी के काव्य में प्रकृति मुख्यतः लौकिक श्रृंगार व अलौकिक प्रेम दोनों में गृहीत हुई है—मानव-प्रेम के प्रसंग में व अलौकिक प्रेम की व्यंजना में । मुख्यता विरह की ही है । विरह में नागमती के लिए प्रकृति दुःखदायी हो गई है—

खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा । बुंद-बान बरसाहिं धन घोरा ॥

× × ×

कार्तिक सरद—चंद उजियारी । जग सीतल, हौ बिरहैं जारी ॥
 चौदह करा चाद परकासा । जनहुँ जरै सब धरति अकासा ॥
 तन मन सेज करै अगिदाहू । सब कहँ चंद, भएउ मोहिं राहू ॥
 किन्तु, मिलन में वही प्रकृति आनन्ददायिनी हो गई है—
 ऋतु पावस बरसै, पिउ पावा । सावन भादों अधिक सोहावा ॥
 पदमावति चाहति ऋतु पाई । गगन सोहावन, भूमि सोहाई ॥
 सीतल बूँद ऊँच चौपारा । हरियर सब देखाइ संसारा ॥
 या निरमल सब धरति अकास । सेज सँवारि कीन्ह फुल-बाम् ।
 सोन-फूल भइ पुहुमी फूली । पिय धनि सौं, धनि पिय सौं भूली ॥

रतिभाव के स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में प्रकृति का वर्णन जायसी ने सिंहलद्वीप-यात्रा व सिंहलद्वीप वर्णन के प्रसंग में किया है । ऐसे वर्णनों में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) कवि ने कोमल-कठोर,

साधारण-असाधारण दोनों के प्रति अपने प्रेम का परिचय दिया है। सिंहलद्वीप की दुर्गमता, मार्ग की विकटता व समुद्र की भीषणता आदि की भावना कवि ने संक्षेप में कराई है किन्तु मार्मिक है। यदि कवि चाहता तो इन स्थलों पर प्रकृति का विस्तृत वर्णन कर सकता था किंतु कथा के वेग व प्रवाह के कारण वह अधिक न रुक सका। फिर भी वर्णन तुलसी जितना संक्षिप्त या सांकेतिक ही नहीं है जो इतना ही कह काम चला लेते हैं—

आगे चले बहुरि रघुराया । अघ्यमूक पर्वत नियराया ॥

समुद्र-वर्णन में समुद्र की भीषणता व उर्द्वल का अच्छा परिचय मिलता है किन्तु उसमें वैसी रसात्मकता नहीं जैसी 'कामायनी' के प्रथम सर्ग में, माघ के 'शिशुपालवध' के तीसरे सर्ग में, या बायरन (Byron) की 'Ocean' तथा कालरिज (Coleridge) की Ancient Mariner नामक कविताओं में। (२) प्रकृति के रूपों व व्यापारों पर कवि की आँख टिकी है जो सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा सूचित होता है। यह बात अप्रस्तुत-विधान में भी उपमान खड़े करते समय झलकती है। (३) कवि कहीं २ प्राकृतिक वस्तुओं की गगना मात्र कर देता है जिससे मन पर कोई रमणीय चित्र नहीं उतरते। केशव (रामचन्द्रिका, तपोवन वर्णन) हरिऔध (प्रियप्रवास, ६ सर्ग) व रामनरेश त्रिपाठी ('पथिक') में भी यह प्रवृत्ति है। मिल्टन (Milton) में भी है किन्तु फिर भी सुन्दर (दे० पृष्ठ ८१)। (४) कवि कहीं कहीं वस्तु-वर्णन में अन्य ओर भी संकेत करता है, वस्तु तक ही हमारी धारणा सीमित नहीं रखता। इससे कवि का साम्प्रदायिक रहस्य-प्रेम झलकता है। जैसे सिंहलगढ़ के इस वर्णन में—

नव पौरी बाँकी नव खंडा । नवौ जो अढ़ै जाइ वरभंडा ॥

पौरी नवौ वज्र के साजी । सहस सहस तहँ बैठे पाजी ॥

नव पौरी पर दसवैं दुवारा । तेहि पर बाज राज-चरियारा ॥

गढ़ अस बाँक जैसि तोरि काया ।

शरीर के भीतरी विधान की जटिलता व साधक अथवा योगी के मार्ग की विकटता की ओर भी संकेत है। ऐसे सांकेतिक वर्णन शुद्ध आलम्बनगत वर्णन को सजीव बनाते हैं या निर्जीव, यह व्यक्तिगत रुचि ही निर्धारित कर सकती है। (५) कवि ने सोनजरद, ईंगुर, कुसुंभी आदि मिश्रित रंगों का भी उल्लेख किया है जो कवि की रंग-भावना व रुचि का भी सुन्दर परिचय देता है।

अलंकार-विधान के लिए भी कवि ने प्रकृति का पुष्कल प्रयोग किया है। उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा (मुख्यतः हेतुप्रेक्षा), अतिशयोक्ति, निदर्शना, तद्गुण व्यतिरेक आदि प्रसिद्ध अलंकारों में प्रकृति के पदार्थों व व्यापारों को उपमान रूप में प्रयुक्त किया है। यों तो उपमान पक्ष बहुत कुछ रूढ़ या परम्परागत ही है किन्तु फिर भी उस की योजना में कवि का प्रकृति-प्रेम-सूचक निजी निरीक्षण भलकता है। कहीं कहीं तो यह निरीक्षण पूर्ण मौलिक व भावुकतापूर्ण है। यथा—

सरवर-हिया घटत निति जाई। टूका टूक होइ कै विहराई ॥
बिरहत हिया, काहु, पिउ ! टेका। दोठि-दक्कैरा मेखहु एका ॥

इस रूपक में ग्रीष्म के सूखे हुए सरोवर की मिट्टी में तापाधिक्य से पड़ी दरारों की ओर कवि की दृष्टि गई है।

उपमानों के रूप में कमल, चन्द्रमा, भ्रमर आदि का इतना अधिक उल्लेख है कि पढ़ते पढ़ते जी ऊबने लगता है। बहुत से उपमान प्रतीक भी होते हैं। उनमें हमारे हृदय की अनेक गूढ़ व अव्यक्त भावनाएं सिमटी रहती हैं। कमल, भ्रमर, चातक, मीन, चन्द्र, दोप, हंस आदि उपमान क्रमशः उल्लासपूर्ण विकास, प्रेम-भिलाष, निःस्वार्थ प्रेम, प्रेम का अभि-सत्त्व, शीतलता और उल्लास व निर्मल विवेक तथा मुक्ति के प्रतीक हैं। जहां ये उपमान प्रतीक रूप में आये हैं वहां हृदय को अवश्य ही भंकृत कर देते हैं।

जायसी ने प्रकृति का प्रयोग रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति के लिए भी किया है। किन्तु यह भावना स्वाभाविक कौतूहल या जिज्ञासा-मूलक-जैसी केनोपनिषद् (१।१), श्वेताश्वतरोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद् (३।१) तथा 'प्रसाद' की 'कामायनी' (आशा सर्ग) या 'पत' के मौन-निमन्त्रण (पल्लव) आदि में मिलती है— न होकर चराचर जगत् में ब्रह्म के प्रति-बिम्ब या प्रकाश (जिसे उर्दू-फारसी वाले खुदा का 'नूर' कहते हैं) के आभास से उद्भासित है। पद्मावती के इस सौन्दर्य-वर्णन में—

रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती । रतन पदारथ, मानिक, मोती ॥

जहँ जहँ बिहसि सुभावहिं हंसी । तहँ तहँ छियँकी जोतिपरगसी ॥

नयन जो देखा कवल भा, निरमल नार सरार ।

हंसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हार ॥

ईशोपनिषद् के 'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।' का ही भाव-प्रधान व कल्पनापूर्ण प्रतिफलन है।

जायसी ने प्रकृति में चेतना का आरोप करके उसका मानवीकरण भी किया है। हीरामन तोता व नागमती के प्रति अर्द्ध-रात्रि में सहानुभूति व्यक्त करने वाला पक्षी (आधी रात विहंगम बोला) इस प्रसंग में दृष्टव्य है।

कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों का काव्य भी प्रकृति के वैभव से सम्पन्न है। उनके काव्य के नायक श्रीकृष्ण यमुना-तट के निवासी हैं,

इस नाते वहाँ की प्राकृतिक परिस्थिति का

कृष्ण भक्ति

शाखा

विशद चित्रण स्वाभाविक ही था। किन्तु इन

कवियों को प्रकृति कृष्ण के नाते ही प्रिय है,

उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। प्रकृति मुख्यतः

उद्दीपन व अलंकार रूप में गृहीत हुई है। वह गोपियों को विरह में

जलने वाली व संयोग में आनंदित करने वाली है। देखिए, सुखदायी

प्रकृति गोपियों के लिए क्या हो गई है—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें ।

जे वै लता लगति तनु सीतल, अब भई विषम अनल की पुंजें ।

वृथा बहति जमुना, तट खगरी, वृथा कमल फूलें अलि गुंजें ।

पवन पानि घनसार सुमन दै दधिसुत-किरण भानु भई गुंजें ।

सूर ने प्रकृति को मुख्यतः उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण किया है । तुलसी की तरह सूर की प्रकृति जड़ भी है—

मधुवन ! तुम कत रहत हरे ।

विरह-वियोग ग्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

और जायसी की तरह चेतन भी—

बरु ये वदराऊ बरसन आए ।

तृन किये हरिन, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जियाए ॥

प्रकृति का भरपूर प्रयोग अलंकारों— मुख्यतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व अतिशयोक्ति—के रूप में हुआ है । उपमान प्रायः सब रूढ़ हैं । कमल, भ्रमर, चन्द्रमा, मीन, चातक, खंजन, मयूर, कदली, शंख, सर्प, शुक, हीरा, मोती, मेघ, मृणाल आदि उपमान शताब्दियों के घिसे-पिटे हैं फिर भी प्रकृति के प्रति कवि का जो प्रेम है वह इन्हीं के माध्यम से व्यक्त हुआ है । अप्रस्तुत-विधान में हुई वस्तु-व्यापार योजना से ही कवि के मौलिक निरीक्षण का पता चलता है । यथा—

ज्यों चकई प्रतिविम्ब देखि कै आनंदी पिथ जानि ।

सूर पवन मिस निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि ॥

*

*

*

पिया बिनु सांपिनि कारी राति ।

कबहुं जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी है जाति ॥

इन उदाहरणों में निश्चल जल के सहसा हिलने से छाया का मिट जाना व सर्पिणी के काट कर उलटी हो जाने का निरीक्षण सूचित हुआ है ।

श्रीकृष्ण की इस ब्रज-स्मृति में प्रकृति का बहुत ही मार्मिक प्रेम व्यक्त हुआ है—

ऊधो ! मोहि ब्रज विसरत नाही ।
हंससुता की सुन्दरि बगरी अरु कुंजन की छाहीं ॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरि क दुहावन जाही ।

पशु-प्रकृति का चित्रण भी सूर ने बहुत ही सुन्दर व मनोविज्ञान-सम्मत किया है—

ऊधो ! इतनी कहियो जाय ।
अति कृसगात भई है तुम विनु परम दुखारी गाय ॥
जल-समूह बरसत अँखियन ते, हूँकति लीन्हे नाथै ।
जहां जहा गोदोहन कीन्हे मृधत सोइ सोइ ढावै ।

कवि ने दावाग्नि के वर्णन द्वारा प्रकृति के कठोर पक्ष के चित्रण में भी अपनी पूर्ण सहृदयता प्रदर्शित की है—

भहरात भहरात दावानल आयो ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अँदोर बन धरनि आकास चहुँ पास छायो ।
बरत बन-बाँस, भरहरत कुस-कास, जरि उड़त बहु भाँस, अति प्रबल भायो ।
भपटि भपटत लपट, फूल फूटत पटकि, चटक लटलटक द्रुम फटि नवायो ।
अति अग्नि भार भंभार धुंधार दारि उच्चटि अंगार भंभार छायो ।
बरत बन पात, भहरात, भहरात, अररात तरु महा धरनी गिरायो ।

सूर में रंग भावना भी पर्याप्त सुन्दर है पर उसमें अधिक सूक्ष्मता नहीं । स्थूल रंगों का नामोल्लेख और उनकी उत्प्रेक्षा, बस यहाँ तक ही यह भावना प्रायः सीमित है—

नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकन भाल रुनाइ ।
सनि, गुरु असुर, देवगुरु मिलि मनु भौम सहित सुखदाइ ॥

फिर भी, कनक, कुसुम, इन्द्रनीलमणि, सुपाक्यौ बिम्ब, बन्धूक कुसुम, गोरोचन को तिलक, तिल प्रसून, दाड़िम दसन, तरुन तमाल, इन्द्र-धनुष, दामिनी दसन, बग पाँति, नील जलद, श्याम जलज, बंधूक

सुमन आदि के द्वारा रंगों के प्रति सजगता व दृष्टि-विस्तार का अच्छा बोध होता है ।

रामभक्तिशाखा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास जी ने अपने मतवाद के अनुसार ही प्रकृति का ग्रहण किया है ।

रामभक्ति
शाखा
राम के नाते ही उन्हें जगत् के पदार्थ प्रिय या पूज्य हैं, अन्यथा हेय । निर्गुण से सगुण बड़ा है । मूर्त जगत् राममय है इसलिए प्रणम्य है—

सिया राम मय सब जग जानी । करौ प्रणामु जोरि जुग पानी ।

उनके मन में जब प्राकृत जन का गुण-गान करने वाले कवियों को देख कर सरस्वती सिर धुनती है—

कीन्हे प्राकृत-जन-गुन-गाना । सिर धुनि गिरा लागि पद्धिताना ॥

तो राम-भावना से शून्य प्रकृति का ग्रहण तो कोसों दूर है । राम के दरस-परस के कारण ही प्रकृति उल्लसित है—

देखे राम पथिक नान्त मुदित मोर ।

कँपै दलाप वर वरहिं फिरावत, गावत कल फोकिल किसोर ।

जहँ जहँ प्रभु बिचरत तहँ तहँ सुख दण्डक बन कौतुक न धोर ॥

सघन छाँह तम रुचिर रजनि भ्रम, बदन चंद चितवत चकोर ।

तुलसी मुनि खग-मृगनि सराहत, भए हैं सुकृत सब इन्ह की ओर ॥

अथवा,

आइ रहे जब तैं दोऊ भाई ।

तब तैं चित्रकूट-कानन छबि दिन दिन अधिक अधिक अधिकाई ॥

गीतावली के पद 'सब दिन चित्रकूट नीको लागत', 'फटिक सिला महु बिसाल, संकुल सुर-तरु तमाल', 'राघव, भावति मोहि विपिन की बीधिनि धावनि', आदि पद इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं ।

सीता के हरण और राम के विरह पर प्रकृति की यह दशा हो जाती है—

आश्रम निरखि भूले, द्रम न फले न फूले,
अलि-खग मृग मानौ कबहु न हे ।

जहाँ कथा-प्रवाह के अनुरोध आदि से प्रकृति को राम के प्रभाव से प्रभावित बताना इष्ट नहीं, वहाँ कवि, जायसी की तरह ही बात को यों चलती करता है—

आगे चले बहुरि रघुराया । ऋष्यमूक पर्वत नियराया ॥

जो हो, फिर भी कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ कवि की भावना प्रकृति के शुद्ध क्षेत्र में कुछ देर के लिए रमी है । कवि का स्वतन्त्र निरीक्षण भी सूचित होता है । यथा—

सोहत म्याम जलद मृदु धोरत धातु रँगमगे सुगनि ।

X X X

जल जुत विमल मिलनि भलकत नभ. वन-प्रतिबिंब तरंग ।

—ग.तावली

पशु-प्रकृति की भी कवि को गंभीर पहचान है । कौशल्या राम के घोड़ों को देखकर विलाप करती है—

आली ! हौ इन्हहिं बुझावौ कैसे ?

बार बार हिहिनात हेरि उत, जो बोले कोउ द्वारे ।

अंग लगाइ लिए वारे तैं करुनामय सुत प्यारे ॥

लोचन सजल, सदा सोवत-से, खान पान बिसराए ।

चितवत चौकि नाम सुनि, सोचत राम सुरति उर आए ॥

कहीं कहीं साधारण जीव-जन्तुओं पर भी कवि की दृष्टि टिकी है— “हौं तो भौतुवा भौर को हौं ।” भौतुवा वर्षाकाल में पानी पर चक्कर काटने वाला काले रंग का एक कीड़ा होता है । ‘चींटियों की सी काली पाँति’ पर हमारे कवि पंत जी की ही दृष्टि नहीं गई । उनसे पहले तुलसी ‘अति रसज्ञ सूछम पिपीलिका’ को बूरा खिला कर देख चुके हैं ।

गीतावलि के 'ब.ल कण्ड' के अंतिम पदों में पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों जलशय आदि का भी पर्याप्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, जो बहुत कुछ परम्पराभूत है ।

कवि प्रकृति के कठोर रूपों के प्रति भी आकृष्ट हैं । 'कवितावली' का 'डिगति उर्वि अति गुर्वि' पद व 'मानस' के 'लंकाकाण्ड' में आग की लपटों के वर्णन की ओर संकेत ही यहाँ पर्याप्त है ।

शृंगार रस में उद्दीपन के रूप में प्रकृति का ग्रहण बराबर होता आया है । तुलसी भी अपवाद नहीं । सीता के विरह में राम की यह दशा हो गई है—

कुवलय दिपिन कुंत-वन सरिमा । वारिद तपन नेल जनु बरिमा ।
जे हितु रहे करत नेइ पीरा । उरग स्वास सम त्रिविध समारा ॥

तो उधर सीता की भी यह दशा हो गई है—

पावकमय ससि रुवत न आग । मानहुं मोहि जानि हतभार्गी ॥
नूतन किमलय अनल समाना । देहि अगिनि तन करहि निदाना ॥

शृंगार के विरह-वर्णन में ही प्रकृति को क्लान्त, शोकमग्न या दुःखदायिनी के रूप में निरूपित किये जाने की परम्परा है । किन्तु ननिहल से भरत के लौटने पर अयोध्या के सर-सरितादि के श्रीहीन होते दिखाई पड़ने को यदि हम भरत के हृदय की छाया मानें तो कहना पड़ेगा कि प्रकृति के परम्परागत उद्दीपनगत चित्रण के क्षेत्र में तुलसी ने नवीन मार्ग खोल कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है, क्योंकि प्रकृति का इस रूप में वर्णन वहाँ शृंगार का तो है नहीं । वहाँ भरत के हृदय का स्थायी भाव भी अनिश्चित जान पड़ता है । यदि बन्धु-विरह, पितृ-विरह जैसी स्पष्ट स्थिति होती तो हम प्रकृति का तत्सम्बन्धी भावों से संयोग बैठा लेते । इस प्रसंग के लिए आचार्य शुक्ल का निर्णय है कि प्रकृति भरत के हृदय की छाया नहीं है किन्तु

स्वयं ही शोकमग्ना है। यदि यही बात ठीक है तो तुलसी की प्रकृति चेतन भी कही जायगी। जड़ तो है ही —

हे खग मृग हे मधुकर खेनी। तुम देखी सीता मृगनयनी ॥

राम के इस प्रश्न पर प्रकृति (कालिदास के पुरुषवा के प्रश्न को सुन कर मौन रहने वाली प्रकृति की ही तरह) मौन रहती है। प्रकृति को ऐसे स्थलों पर चेतन भी प.ते हैं—

आश्रम निरखि भूले, द्रुम न फले न फूले,
अलि-खग-मृग मानौं दावहु न हे ।
मनि न मुनिवधूटी उजरी परनकुटी,
पंचवटी पहिचानि ठाढ़ रहे ॥

परम स्नेही हृदयों का किसी भावी अनिष्ट-भावना से आशंकित या चिन्तितुर हो जाने पर वानावरण में खिन्नता या उदासी का अनुभव करना मनोविज्ञान-सम्मत है। तुलसी ने स्वयं 'कुसगन' शब्द का प्रयोग किया है। अतः श्रीहीन प्रकृति को भरत के हृदय की छाया माना जाना भी अनुचित नहीं जान पड़ता।

प्रकृति का उपयोग उपदेश करने के लिए भी कविता में होता आया है। उदाहरणार्थ—

उदित अगस्ति पंथ जल सोषा। जिमि लोभहि सोपड़ संतोषा ॥
सरिसा सर निर्मल जेल्ल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा ॥
रम रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी ॥

अलंकार रूप में भा कवि ने प्रकृति का भरपूर प्रयोग किया है। उपमान पक्ष में, सूर की ही तरह, प्रकृति के उपकरणों का चयन किया गया है। कोई कोई उपमान प्रतीकत्व लिये हुए भी है—'जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।' ज्ञानी संतों ने रात्रि को अज्ञान या सांसारिकता के रूप में पर्याप्त रूप से ग्रहण किया है। 'चातक' तो तुलसी के लिए निःस्वार्थ प्रेम का प्रतीक है ही।

रीति-काल की हिन्दी कविता अधिकतर बाह्यार्थ निरूपिणी ही रही। उसमें न तो मानव जीवन के गम्भीर प्रसंगों अथवा परिस्थितियों का मर्मस्पर्शी उद्घाटन हुआ और न जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ कवि हृदय के प्रकृत सौन्दर्य का सम्बन्ध दिखाई पड़ा। उसका अनुशीलन करने पर हमें उनकी उस गंभीर अनुभूति का पता नहीं लगता जो जीवन की विभिन्न वीथियों के बीच विशेष विशेष अवसरों पर प्रकट होकर उनके हृदय की सर्वभूतव्यापकता की सूचना देती हो। लोक-सामान्य भाव-भूमि पर पहुँचे हुए ऐसे कवि इस काल में इने गिने ही मिले जिन्हें विश्व-हृदय की मार्मिक पहचान है। उनमें प्रधान हैं, घनानन्द, रसखान, ठाकुर, देव, पद्माकर, बिहारी आदि। इस काल की कविता अधिकतर राज-दरबारों में हुई, अतः राज्याश्रित कवियों की वाणी में आत्माभिव्यञ्जन की वह प्रगल्भता नहीं थी जो (रसखान, घनानन्द व ठाकुर जैसे) रस-लीन कवियों में पाई जाती है। अधिकतर कवि आचार्य्य और कवि एक साथ बनने का ही हौसला रखते थे। अधिकांश कवियों का, दरबारों की सीमा में ही आवद्ध रहने से, प्रकृति से जीवित सम्पर्क नहीं रहा। प्रकृति मुख्यतः उद्दीपन व अलंकारों के लिए ही प्रयुक्त हुई।

केशवदास दरबारी कवि व आचार्य्य थे। अलंकारों का भरा पूरा डब्बा उनके साथ रहता था। राजसी ठट्ठा वाट के अतिरिक्त अन्य प्रकार का सौन्दर्य्य उन्हें आकर्षित ही नहीं करता था। मार्मिक अनुभूति तो उनमें बहुत ही कम दिखाई देती है। अतएव उनकी कविता स्थूल, बुद्धिग्राह्य एवं अलंकारों से भारावनत है। प्राकृतिक सौन्दर्य्य-विभूतियाँ उनके लिए कितनी आकर्षण रखती हैं इसका पता रामचन्द्रिका की इन पंक्तियों से लगेगा—

देखे मुख भावे अनदेखे ही कमल चंद ।

तारै मुख मुखौ सखी कमलौ न चंद री ।

प्रकृति-वर्णन में देश का भी ध्यान नहीं रखा, केवल वस्तु-परिगणन मात्र कर दिया—

तरु तार्लस्य, तमाल, ताल हिन्ताल मनोहर ।
मंजुल बंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेल वर ॥
पला ललित लदंग, संग पुंगीफल सोहैं ।
सारी मुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं ॥

सूर्योदय वर्णन तो कुछ है भी—

अरुण गात अति प्रात पद्मिनीप्राणनाथ भय ।
मानहुं केशवदास कोकनद कोकप्रेममय ।
परिपूरण सिंदूरपूर केधौ मंगलघट ।
किथो शक्र को छत्र मढ्यो मानिकमयूपपट ॥
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को ।
यह ललित लाल कैधौ लसत दिग्भामिनि के भाल को ॥

किन्तु पाँचवीं पंक्ति में ही सादृश्य के लिए कपाल उपमान लाकर सब गुड़-गोबर कर दिया ।

दण्डकारण्य के वर्णन को तो श्लेष के चक्कर में बिल्कुल ही नष्ट कर दिया । शब्द-साम्य के कारण बेर भी भयानक हो गया—

शोभत दंडक की रुचि बनी । भातिन भातिन सुन्दर घनी ॥
सेव बड़े नृप की जनु लसै । श्रीफल भूरि भाव जहँ बसै ॥
बेर भयानक सी अति लगै । अर्क-समूह जहो जगमगै ॥
नैनन को बहुरूपन ग्रसै । श्री हरि की जनु मूरति लसै ॥

पञ्चवटी के वर्णन की कैसी मिट्टी खराब की है—

सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी ।
निघटी रुचि मोचघटी हूँ घटी, जग जीव यतीन की छूटी तटी ॥
अघ-ओघ की बेरी कटी विकटी, निकटी प्रकटी गुरुबान गटी ।
चहूँ ओरन नाचति मुक्ति नटी, गुण धूरजरी वनपंचवटी ॥

टकार की योजना ऐसी है मानो घुड़दौड़ हो रही हो। फिर भी कहीं कहीं कुछ सुन्दर वर्णन भी हैं। पंचवटी का वर्णन देखिए—

फल फूलन पूरे, तरुवर रूरे, कोकिल कुल कलरव बोलै।

अति मत्त मयूरी, पिय रस पूरी, बन बन प्रति नाचति डोलै ॥

चित्र कितना पूर्ण व छंद-प्रवाह कैसा स्वच्छ है !

केशव ने ऋतु-वर्णन को अलंकारों से लाद दिया है। वर्षा को काली का रूपक देकर उसके सहज सौन्दर्य को विकृत कर दिया है। श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अप्रवृत्ति, भ्रांति आदि अलंकारों की छटा अलंकार-प्रेमियों को तो मुग्ध कर देने वाली है।

बिहारी ने अपनी 'बिहारी सतसई' में नूतन उद्भावना शक्ति, प्रौढ़ और प्राञ्जल भाषा, रमणीय कल्पना, तथा परिस्थितियों की स्वाभाविकता का अच्छा परिचय दिया है। प्रकृति के प्रति उनका हृदय इतना मारा हुआ नहीं है जितना केशव का। कहीं २ तो विरह के प्रसंग में किसी प्राकृतिक व्यापार की ऐसी मार्मिक उक्ति मिलती है जो सीधे हृदय को जाकर छूती है—

विकसित नवमल्ली कुसुम-निकसित परिमल पाइ।

परसि पजारति विरहि हिय वरस रहे की बाइ ॥

खिले हुए नव-मल्लिका के फूलों से निकली हुई सुगंध से मिश्रित वर्षा-ऋतु की वायु विरही को छूकर उसके हृदय को जलाती है। बिहारी ने प्रकृति को उद्दीपनार्थ ही गृहीत किया है फिर भी प्रकृति के प्रति कहीं कहीं पर मार्मिक अनुराग झलकता है। मन्द पवन पर उक्तियाँ देखिए—

रनित भृंग धंटावली, भरत दान मद नीर।

मन्द मन्द आवत चल्याँ, कुंजर कुंज समीर ॥

रंक्यो साकरे कुंज मग करत भाभि भुकरातु।

मन्द मन्द मास्त तुरँगु खूँदतु आवतु जातु ॥

रसखान ने प्रकृति में अपने इष्टदेव कृष्ण के संसर्ग के कारण
अत्यन्त मधुरता और सरसता का अनुभव
रसखान किया । वे 'करील की कुंजन' पर सब कुछ
वारने को तैयार थे—

या लकुटी अरु वामरिया पर राज तिहू पुर को तजि डारौ ।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौ ॥
रसखानि कबौ इन आखिन सौ ब्रज के बन, वाग तड़ग निहारौ ।
कोटिक हौ कल-धौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौ ॥

रीतिकाल के कवियों में सेनापति एक ऐसे कवि हैं जिनकी आँख
प्रकृति के प्रति बहुत सजग दिखाई पड़ती है । युग-प्रवृत्ति से वे भी
प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन के लिए करते हैं, किन्तु प्रकृति के मानव-
निर्पेक्ष वर्णन की ओर ही उनका हृदय ढला हुआ जान पड़ता है ।
शरद के आगमन का चित्र कितना स्पष्ट व सजीव है—

पाउस निकास तातैं पायो अवकास, भयौ
जोन्ह कौ प्रकास सोभा ससि रमनीय कौ ।
बिमल अकास, होत बारिज बिकास, सेना-
पति फूले कास हित हंसन के हीय कौ ॥
छिति न गरद, मानौ रंगे हैं हरद सालि
सोहत जरद, को मिलावै हरि पीय कौ ।

मत्त हैं दुरद, मिट्यौ खंजन दरद, रितु
आई है सरद सुखदाई सब जीय कौ ॥

रेखांकित स्थल में ही युग की उद्दीपन-प्रवृत्ति झलक रही है । शेष
छंद में प्रकृति का शुद्ध वर्णन है । जर्द व हरद (हल्दी) के द्वारा रंगों
की सूक्ष्म भावना का भी कवि ने अच्छा परिचय दिया है । शीष्म की
प्रचण्डता का कैसा सुन्दर वर्णन है—

वृष को तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत है ।

तत्रति धरनि, जग जरत भरनि, सीरी
छाह को पकरि पंथी पंथी विरमत है ॥
सेनापति नैक दुपहरी के दरत, होत
धमका विपम, ज्यों न पात खरकत है ।

रंग-भावना ध्वनि-भावना व सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देने वाली वर्ण-विषयक ये पंक्तियाँ आँखों के सामने कैसा चित्र ला खड़ा करती हैं—

सलिल सहल मानौ सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किथो पवन अधार के ।
पूरव को भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के ॥

‘ढेर-ढेर धुती रुई के से’ कुमुदकला के रजत-करों में मृदु ध्वनि करने वाले बादलों को पंत जी जिस चाव से देखते हैं, उसी चाव से सेनापति भी । सावन भादों के बादलों की भावना तुलसी ‘घन घमण्ड नभ गरजत घोरा’ कह के जगाते हैं तो सेनापति क्वार के बादलों की भावना ‘गग गग गाजत’ कह कर पूर्ण ध्वन्यात्मक सौन्दर्य के साथ ।

देव, ग्वाल, मतिराम व रसखान आदि कवियों में भी कहीं कहीं प्रकृति-प्रेम की अच्छी व्यंजना हुई है । देव द्वारा प्रभात में गुलाब का चटकारी देकर बालक वसन्त को जगाये जाने का वर्णन प्रसिद्ध ही है—

मदन महीप जू को बलक बसंत, ताहि
प्रातहिं जगावत गुलाब चटकारी दै ।
‘ग्वाल’ कवि ने चाँदनी की शोभा को खूब निहारा है—
जल पर, थल पर महल, अचल पर
चाँदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की ।

मतिराम ने प्रिय और प्रिया को आषाढ़ की साँभ में आनंदित बताया है—

दोऊ अनंद सों आँगन माँभ विराजै असाढ़ की साँभ सुहाई ।

रसखान को प्रकृति प्रिय है पर श्रीकृष्ण के नाते ही—

रसखानि कबौ इन आखिन सौ ब्रज के बन, बाग, तड़ाग निहारौ ।

कोटिक हौ कल-धौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौ ॥

पद्माकर ने 'जगद्विनोद' में जो पट्-ऋतु वर्णन किया है वह भी पर्याप्त सुन्दर है ।

रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति का प्रयोग अधिकतर उद्दीपन के रूप में ही किया है । एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

ऊधो यह श्रुति सो सँदेसो कहि दीजो भलौ,

हरि सों हमारे छाँ न फूलैं बन कुंज हैं ।

किसुक गुलाब, कचनार औ अनारन की

डारन पै फूलत अगारन के पुंज हैं ॥—पदमाकर

अथवा,

कहा कहिये मञ्जरी रजनी गति चंद्र कढ़ै कि जियै गहि काढ़ै ।

अर्मातिधि प पिय-सार अरु हिम जोति जगाय कौ अंगनि डाढ़ै ॥

सु या पति मंग न जानति है धन आनन्द जान बिछोह की गाढ़ै ।

वियोग में वारिनि बाढ़ति जैसी कछू न बटै जु संजोग हू बाढ़ै ॥—धनानन्द ।

रहीम, गिरधरदास आदि कवियों ने प्रकृति के कार्य-व्यापारों के वर्णन द्वारा प्रभावशाली ढंग से उपदेश भी दिये हैं पर उनमें काव्य-सौन्दर्य बहुत कम है ।

रीतिकाल की अधिकांश कविता का लक्ष्य स्थूल मनोरञ्जन और चमत्कार ही रहा । विलासी राजाओं के लिए ही विशेषकर लिखी जाने

के कारण श्रृंगार की अनूठी अनूठी उक्तियाँ

रीतिकाल की ढूँढ निकालने में ही कवि-कर्म समझा गया ।

प्रकृति सम्बन्धी विभाव-पक्ष सर्वथा गौण हो गया । “उपमा,

कविता का उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की योजना भावों को

स्वरूप तीव्रता प्रदान करने के लिए ही होनी चाहिए

अतएव ये अपर वस्तुएँ प्रस्तुत के समान ही

भाव उत्पन्न करने वाली होनी चाहिए, तमाशा खड़ा करने के लिए नहीं।” किंतु अधिकांश रीतिकालीन कवियों ने दृश्य-वर्णन में भी अनुप्रास, श्लेष, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को ऐसा बे-मेल विधान किया कि प्रस्तुत पक्ष दबा ही रहा। इन कवियों में रूढ़ बारहमासे, षट्ऋतु-वर्णन आदि प्रचलित रहे जिनमें इनके हृदय का कोई विशेष लगाव न था। सीधे सारे प्रकृति-वर्णन भी यमक, अनुप्रास आदि से लदे मिलेंगे। प्रकृति-वर्णन की स्वाभाविक पद्धति का विकास इन कवियों में इसलिए न हो सका कि ये नगरों और राजदरबारों में ही रहते थे, प्रकृति को फूटी आँखों भी न देखते थे। चाँदनी, कमल, चन्द्रमा आदि के प्रति स्वतन्त्र अनुराग प्रकट न करके राजाओं की काम-वृत्ति और भड़काने के लिए उन्हें शृंगार के उद्दीपन के रूप में ही वर्णित करते थे। फिर, मुक्तकों की भी प्रचुरता थी अतः कुछ दूर तक चलने वाले संश्लिष्ट ऋतु-वर्णन अथवा स्थल-चित्रण के लिए उन्हें अवकाश मिलता तो भी कहाँ ? केवल भद्दे और रूढ़ षट्ऋतु-वर्णनों से उनकी प्रतिभा व काव्योत्कर्ष का पता नहीं लगता। पहले जायसी आदि कवि भी ऐसे वर्णन कर चुके थे; उनकी पद्धति भी रूढ़ थी। तो भी उनमें कुछ नवीन कल्पनाएँ और मार्मिक उद्भावनाएँ हैं। पर आगे के कवियों को जहाँ थोड़ी भी ऋतु-छटा दिखानी होती वहाँ वही षट्ऋतु-वर्णन यांत्रिक रूप में ला रख दिया जाता। वर्षा में तो वे ‘कालिका’ का रूप देखते थे फिर भला उसके रूपक-निरपेक्ष स्वतन्त्र सौन्दर्य का वर्णन वे क्यों करते। “रस के भेद प्रस्तुत वस्तु या भाव के विचार से किए गए हैं, अप्रस्तुत या साधन के विचार से नहीं” किन्तु इन कवियों ने अद्भुत रस में ही रस की सिद्धि समझ ली।

प्रकृति के मार्मिक तथ्य-व्यंजक व्यापारों को मानव-जीवन पर घटित कर जो अन्योक्तियाँ उस काल में लिखी गईं वे थीं तो प्रभावशालिनी किन्तु प्रकृति को अन्योक्तियों की रचना मात्र के लिए

ही सदा देखता उन कवियों का दृष्टि-संकोच ही कहा जा सकता है ।
बाह्य सौन्दर्य को स्वतन्त्र आलम्बन मान कर उसका वर्णन करने में
वे कभी प्रवृत्त न हुए ।

पंचम प्रकरण

आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति-प्रेम व प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से हम भारतेन्दु-युग से हिन्दी कविता का एक नवीन पटल उघड़ता हुआ देखते हैं। स्वयं भारतेन्दु ने साहित्य के विविध अंगों (कविता, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि) व काव्य-रूपों (प्रबन्ध, गीत कविता आदि) में अपने भावों की विविधता व अनेकरूपता का परिचय दिया। अब तक की हिन्दी-कविता शृंगार, वीरता व भक्ति को ही विषय बनाती आ रही थी। वास्तव में ये विषय हमारे हृदय के विशालतम अंश का शासन करते हैं, किन्तु फिर भी हृदय के विकास के लिए अभी और गुंजाइश थी। वस्तु-जगत् व भाव जगत् से अविच्छिन्न रूप से—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में—सम्बन्धित जो हमारे हृदय का मूलभाव है, वह 'रति' कहलाता है। इस 'रति' का क्षेत्र जितना ही व्यापक होगा उतना ही वह कवि के हृदय की व्यापकता का परिचायक होगा। * यह रतिभाव कांताविषयक व देवता विषयक ही नहीं होता, प्रत्युत् देश-विषयक, मानव-प्रेम विषयक (अपनी संतान, पड़ौसी, देशवासी मानवमात्र), प्रकृति-विषयक, पदार्थ-विषयक (मानवकृत, जैसे—भवन, वस्त्र, अलंकार आदि) व प्रेम सौन्दर्य व कला की सूक्ष्म भावनाओं व

* विशेष देखिये—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत 'पद्माकर पंचामृत' की भूमिका तथा पं० चन्द्रवली पाण्डे द्वारा अ० भा० हि० साहित्य-सम्मेलन के बम्बई (३५ वें) अधिवेशन में हिन्दी-साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से किया गया अभिभाषण।

आदर्शों से सम्बन्ध रखने वाला भी होता है। जब कोई कवि या युग-काव्य 'रति' की इस व्याप्ति तक अपना प्रसरण दिखाता है उसी अनुपात में हम उस कवि या युग-हृदय का विकास आँकने में समर्थ होते हैं। प्रकृति-सम्बन्धी रति या प्रकृति-प्रेम हमारे हृदय के रति-वृत्त का एक महत्वपूर्ण खंड है। इस प्रेम को वाणी देना सम्पूर्ण हृदय की पूर्णता को वाणी देने का एक अनिवार्य अंग है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में मुख्यतः कांताविषयक व देवताविषयक रति की ही अभिव्यक्ति हुई। रति के शेष रूपों की पुष्कल अभिव्यक्ति का युग मुख्यतः बीसवीं शताब्दी में ही आया। हमारा विषय प्रकृति तक ही सीमित है, इसलिए यहाँ केवल उसी का विवेचन उपयुक्त होगा।

भारतेन्दु युग से काव्य-क्षेत्र में प्रकृति-सम्बन्धी नवीन चेतना का जो संचार हुआ उसके कारणों पर कुछ विचार करना आवश्यक है।

भवभूति के बाद भारतीय साहित्य में प्रकृति-प्रकृति-प्रेम के पुनरावर्तन प्रेम की जो उल्लासमयी सहज-प्रसन्न धारा के कारण। शताब्दियों के लिए सूख गई थी या अन्तःसलिला

हो चुकी थी, वह फिर किन कारणों से प्रकट हुई? प्रकृति-प्रेम की नैसर्गिक भावना के पुनरावर्तन के कुछ कारण ये जान पड़ते हैं—(१) अंग्रेजों से मुक्त होने के लिए देश-प्रेम व राष्ट्रीयता का व्यापक आंदोलन चल रहा था। पर देश के प्रति सच्ची प्रेम-भावना जगाने के लिए देश के मोहक रूप-सौन्दर्य—समुद्र, पहाड़, नदी-नाले, पेड़, पौधे, फल-फूल, पशु-पक्षी—का वर्णन करना समायोज्य था। भारत माता की मधुर मूर्ति पर रींझे बिना, उसकी शोभा को देख कर उसका गुणगान सुन कर, रसमग्न हुए बिना देश-प्रेम कैसा? (२) काव्य के सदा दो ही बड़े विषय रहे हैं—मानव और प्रकृति। मानव-प्रधान काव्य हिन्दी में बहुत हो चुका था। प्रकृति-प्रधान काव्य अब कवि की कल्पना व रचनाशक्ति की प्राकृतिक क्षुधा थी। (३) देश में अंग्रेजी

साहित्य के अध्ययन-अध्ययन से प्रकृति-बहुल अंग्रेजी काव्य का प्रभाव भारतीय काव्य-प्रतिभा पर भी पड़ा। वर्डस्वर्थ, शेली, कीट्स, टैनीसन ब्राउनिंग, गोल्डस्मिथ, स्विनवर्न व रोजटी आदि प्रसिद्ध रोमांटिक कवियों का प्रकृति-प्रेम हिन्दी-कवियोंको आकृष्ट कर सकने में समर्थ हुआ। इस प्रभाव के ग्रहण करने व उसे प्रसारित करने में पं० श्रीधर पाठक अग्रगण्य रहे। (४) यूरोप में—विशेषतः इंगलैंड में— १९ वीं शताब्दी में वैज्ञानिक व औद्योगिक क्रांति का प्रचण्ड वेग से विकास हुआ जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक मंडियों में प्रतिस्पर्धा व संघर्ष की घुड़दौड़ आरम्भ हो गई। उधर तर्क की सिल्ली पर पैनाई नवीन बौद्धिकता ने मानव-ईश्वर (जैसे राम कृष्ण का ईश्वरत्व) को चुनौती दे दी और वैज्ञानिकता ने भारतीय रक्त में लाली बन कर बहने वाली पुरातन वैष्णवी श्रद्धा की धजियाँ उड़ानी आरंभ कर दी। भारतीय ब्रह्म समाज व आर्य समाज ने भी सगुण-भावना को ठेस पहुँचाई। सामाजिक, आध्यात्मिक व धार्मिक उत्क्रांति के इस संक्रांति-कालीन उछापोह ने शांति-प्रिय व अदर्श प्रेमी कवि को मानसिक संतुलन व स्वास्थ्य-लाभ के लिए प्रकृति के स्नेह-शीतल आँचल की ओर जाने के लिए विवश किया। मानव और मानव के बीच होने वाले दुर्व्यवहार को वर्डस्वर्थ 'What man has made of man !' कह कर व्यक्त कर ही चुका था। मानव-समाज के इस श्वासावरोधक वायुमण्डल से दूर कवि प्रकृति की ओर ही जा सकता था। इस दुःख से शेली भी विकल हो उठा था—'Away away from men and towns, to the wild wood and the downs.....'। (५) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने अनन्य प्रिय प्रकृति-प्रेमी कवि कालिदास का काव्य-सौन्दर्य हिन्दी जनता के समक्ष रख कर कवियों को प्रकृति-प्रेम व प्रकृति-चित्रण के लिए प्रेरित किया। (६) छायावाद के कवियों ने समस्त रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करके स्वच्छन्द कल्पना का मार्ग पकड़ा। स्वच्छन्दतावादी कल्पना-प्रिय कवि प्रायः वर्तमान से

असंतुष्ट होकर अपनी ही एक नवीन मानसी सृष्टि के निर्माण में लीन हो जाते हैं। उनकी मुक्त कल्पना स्वच्छन्द उड़ान के लिए प्रायः चार वीथियाँ पकड़ती हैं— (क) प्रकृति का स्वच्छन्द रमणीय क्षेत्र (ख) अपना या देश का स्वर्णिम अतीत, (ग) भविष्य का स्वप्न-दर्शन व (घ) अन्तर्मुखता तथा मनोमंथन। प्रसाद अतीत में रमे और पंत भविष्य में विचरे। महादेवी जी मनोमंथन में लीन रहीं। पर प्रकृति के क्षेत्र में स्वच्छन्द विचरण अधिकांश छायावादी कवियों का शाश्वत लक्षण रहा।) (७) भारतीय संस्कृति के उपासकों ने वस्तु-मूलक भौतिकता-प्रधान पाश्चात्य संस्कृति के घातक प्रभावों व अशांति से बचाने तथा आत्मिक शांति व संतोषदायिनी सात्विक भारतीय संस्कृति का महत्व हृदयंगम कराने के लिए प्राचीन भारतीय वन-जीवन, आश्रम-जीवन व ग्राम-जीवन का सौन्दर्य विशेष अनुराग से अंकित किया। गोल्डस्मिथ की तरह 'प्रेमधन' ने भी गाँवों के उजड़ने व नगरों के बसने पर मार्मिक उद्गार व्यक्त किये हैं। श्रद्धेय गुप्त जी की 'अहा ! ग्राम्य जीवन भी पया है !' नामक कविता प्रसिद्ध ही है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, गांधा व रवीन्द्र ने इस आश्रम-जीवन की भावना के प्रति अत्यन्त मोह प्रकट किया। हिन्दी-कवि पर भी इस भावना का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

प्रकृति-सम्बन्धी ये प्रवृत्तियाँ भारतेन्दु काल में आरम्भ होकर उत्तरोत्तर विकसित होती गईं। भारतेन्दु ने यद्यपि सूक्ष्म निरीक्षण की ओर अपनी रुचि बताई किन्तु उनका प्रकृति-चित्रण अलंकार-प्रधान ही है, (उदाहरणार्थ, उनकी 'गंगा-वर्णन' व 'यमुना वर्णन' नामक कविताएँ)। उस युग में पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने प्रकृति के प्रति बहुत मार्मिक प्रेम व्यक्त किया। उनके बाद पं० श्रीधर पाठक, ठाकुर जगमोहन

प्रकृति-काव्य
का
विकास-क्रम

सिंह, पं० रामचन्द्र शुक्ल, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', सत्यनारायण 'कविरत्न', 'हरिऔध' मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों की कविता में प्रकृति के प्रति सच्चा अनुराग दिखाई पड़ा। फिर छायावाद में प्रकृति ने महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। उसमें प्रकृति स्थूल से सूक्ष्म हो गई—बाहरी वस्तु-व्यापारों की व्यंजना ही नहीं हुई, वर्डस्वर्थ व शेली के अनुकरण पर प्रकृति में एक आन्तरिक सत्ता के अन्वेषण और उसके साक्षात्कार का भी प्रयत्न लक्षित हुआ। प्रकृति के साथ रतिमूलक प्रेम-सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। प्रकृति प्रिया, माँ, और सहचरी भी हुई। प्रकृति के प्रति रत्यात्मक प्रेम-भावना छ यावादियों का विशेष लक्षण हुआ। श्री जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रा नन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, 'नवीन', म. खन-लाल चतुर्वेदी, बच्चन, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, नगेन्द्र, अंचल, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, गुरुभक्तसिंह आदि कवियों के काव्य में प्रकृति का पुष्कल ग्रहण हुआ। कुछ कवियों में प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य के प्रति इतनी आस्था बढ़ी कि स्थूल प्रकृति कवि-कल्पना-विलास व दार्शनिकता के लिए निमित्त मात्र ही रह गई। प्रतिक्रिया स्वरूप उत्तरकालीन प्रगतिवादी कवियों ने (शिवमंगलसिंह 'मुमन', 'अंचल', केदार, रामदत्तबालसिंह, 'दिनकर', भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरजाकुमार माथुर आदि) प्रकृति को सूक्ष्म से उतार कर पुनः स्थूल धरातल पर ला प्रतिष्ठित किया। अत्यधिक काल्पनिक सौन्दर्य की अपेक्षा उन्हें स्थूल मिट्टी, खेत, कुएँ का ही सौन्दर्य अधिक भाया। नई पीढ़ी के कवि मध्यमार्गी जान पड़ते हैं। वे न तो छायावादियों की तरह प्रकृति के सौन्दर्य को धूमिल गहराइयों में जाकर देखते हैं, और न शुद्ध यथार्थ के धरातल पर ही। अतः इनका प्रकृति-प्रेम स्पष्ट व सजीव है। नई पीढ़ी के कवियों में श्री हंसकुमार तिवारी, शंभुनाथ 'शेष', 'नीरज', बलबीरसिंह 'रंग', देवराज 'दिनेश', चिरंजीव,

रामावतार त्यागी, शंभूनाथ सिंह, 'गुलब', राजनारायण बिस रिया, 'सुधीन्द्र', क्षेमचन्द्र 'सुमन', रामकुमार चतुर्वेदी, जनकीवल्लभ शास्त्री, सुमित्राकुमारी सिन्हा, चन्द्रमुखी ओझा, 'सुधा', विद्यावती 'कोकिल', शांति सिंहल, वीरेन्द्र मिश्र, रघुवीरशरण 'मित्र' नरेश मेहता, श्रीराम 'प्रेम', होरीलाल शर्मा 'नीरव', घनश्याम अष्ठाना, 'द्विरेफ' आदि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि सम्प्रति प्रकृति-काव्य में वह आत्म-विस्मृति, उन्मुक्त आत्मोल्लास, सूक्ष्मदर्शिता व प्राणोच्छ्वास का—कूछ अपवादों को छोड़कर—अभाव ही है जो स्पष्ट ही कवियों के जीवन-संग्राम की कर्म-व्यग्रता का परिणाम है।

बीसवीं शताब्दी के हिन्दी-काव्य में प्रकृति का निरूपण कैसा हुआ है, इस पर विचार करने के पूर्व कुछ बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

✓ निदान्त-निरूपण के प्रसंग में हमने प्रकृति विषय-निरूपण के विविध प्रयोगों का संक्षिप्त विवरण दिया था। कविता में प्रकृति के जितने भी प्रयोग

या रूप हो सकते हैं उन सब का निरूपण उसी ढाँचे के अनुसार भी किया जा सकता है, किन्तु हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में प्रकृति चित्रण की विधाओं के जो विविध नामकरण किये गये हैं उनसे हम अधिक परिचित हैं। अतः सुविधा की दृष्टि से हम उसी ढाँचे को लेकर विषय का विवेचन करेंगे। दूसरी बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि ये विधाएँ एक दूसरी से सर्वथा प्रच्छन्न नहीं हैं। विधाओं का विभाजन व्यावहारिक सुविधा या सुबोधता की दृष्टि से ही किया गया है। प्रकृति-निरूपण की निम्नलिखित विधाएँ कही जा सकती हैं—(१) आलम्बन रूप (२) उद्दीपन रूप (३) अलंकार रूप (४) रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति (५) मानवीकरण (६) उपदेश (७) पृष्ठभूमि व वातावरण-निर्माण, तथा (८) प्रतीक। इनमें से किसी एक रूप में किये जाने वाले प्रकृति-चित्रण में दूसरे रूप या रूपों से भी सहायता ली जा

सकती है। उदाहरणार्थ, प्रकृति का अलंकार रूप प्रायः सभी प्रकार की विधाओं में भाषा को अलंकृत करने या अर्थ को चमत्कारपूर्ण बनाने में प्रयुक्त हो सकता है। आलम्बन रूप में देखा जाने वाला कोई पदार्थ रहस्य-भावना के लिए मार्ग खोल देता है। पृष्ठभूमि या वातावरण-निर्माण के लिए प्रकृति का चित्रण बिना उस चित्र के प्रति मौलिक प्रेम-भावना (आलम्बन) के संभव ही नहीं होगा। आलम्बनरूप में किसी पदार्थ पर दृष्टि गड़ा कर देखते हुए—उसके साथ एकाकार हो जाते हुए—काल्पनिक संवाद की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर मनवीकरण और रहस्य-भावना का रूप प्रतिष्ठित हो जायगा, क्योंकि भावना में हम उस पदार्थ को (चन्द्र, सूर्य, कमल, वासु आदि) मानव-मुलभ आवरण करते हुए देखने लगेंगे और अन्त में वह स्वाभाविक कौतूहल व जिज्ञासा की वस्तु हो जायगा। वासु, चन्द्रमा, मीन, नक्षत्र, दीपक, जुगनू आदि पदार्थों से रति-मूलक जितना ही प्रेम भव बढ़ता जायगा उतना ही उन पदार्थों में कवि के लिए, हृदय की विर परिचिति के परिणाम स्वरूप, प्रतीकत्व बढ़ता जायगा। प्रायः सब प्रकृति-प्रेमी कवि दीर्घकालीन प्रकृति-सामीप्य से प्रकृति के पदार्थों को प्रतीक रूप में ग्रहण करने लगे थे, जैसे, बर्डस्वर्थ, प्रसाद व पंन (‘उत्तरा’)। अभिप्राय यह कि प्रकृति-चित्रण की विधाएँ परस्पर एक दूसरे से गुँथी हुई हैं; उनका पूर्ण निरपेक्ष अस्तित्व प्रायः कम ही दिखाई देता है। अब हम एक एक विधा को अलग-अलग लेकर प्रकृति-चित्रण का स्वरूप समझने का प्रयत्न करेंगे।

(१) आलम्बन

यह रूप प्रकृति-निरूपण के रूपों में सब से अधिक महत्व का है। जब प्रकृति के सभी प्रकार के पदार्थ कवि के रतिभाव के स्वतन्त्र आलम्बन या आधार हो जाते हैं और वे उसकी अन्तःसत्ता पर व्यापक व गंभीर प्रभाव स्थापित कर लेते हैं तभी यह रूप पूर्णतया

प्रतिष्ठित होता है। यहीं कवि की प्रकृति-सम्बन्धी चेतना की सप्राणता परखी जाती है। यदि कवि ने आँख खोलकर, कान खोल कर, हृदय खोल कर, अनेक रूप-रंग व ध्वनियों वाली प्रकृति का दर्शन न किया, उसके साथ उसका तादात्म्य स्थापित नहीं हुआ, तो अन्य विधियों में भी उसका दौर्बल्य झलक जायगा—न तो उसका अप्रस्तुत-विधान (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि में) मौलिक निरीक्षण-जन्य होगा, न रहस्य-भावना में स्वाभाविकता, तीव्रता व सरसता होगी, और न पृष्ठ-भूमि व वातावरण का निर्माण ही प्रभावशाली रूप में हो सकेगा। पर हम यह कैसे जानें कि कवि प्रकृति के सौन्दर्य में डूब गया है, उस की अन्तःसत्ता प्रकृति की चेतना से सद्यःस्फूर्त हो उठी है, और उसके प्राण में प्रकृति का सारा उल्लास, मुक्ति का आनन्द व उन्माद उच्छ्वसित हो उठा है। हाँ, उसकी पहचान है। और वह पहचान यह है कि कवि जहाँ प्रकृति के पदार्थों, रंगों, ध्वनियों, गंधों व स्पर्शों का पूर्ण तल्लीन होकर अनुभव करे और प्रस्तुत दृश्य तथा अपने प्रकृति प्रेम को समर्थ भाषा द्वारा पटक या श्रोता के हृदय में प्रेषित करे। इस के साथ ही प्रकृतिमूलक दार्शनिक भावना भी काव्य की पद्धति से रस-रसमय बना कर व्यक्त की जा सकती है। ऐसे काव्य के अनुशीलन से जहाँ हमें हमारा हृदय पूर्णतया रसमग्न होता हुआ जान पड़ेगा, वहीं यह भी पक्का प्रमाण मिल जायगा कि कवि प्रकृति का सच्चा प्रेमी है। जिस अनुपात में हम कवि को प्रकृति में निमज्जित पायेंगे, उसी अनुपात में हम उसके प्रति आकर्षित होंगे। प्रकृति के इस अलम्बन रूप की अब हम विस्तृत समीक्षा करेंगे।

(क) रूप-विस्तार

सबसे पहले कवि को प्रकृति के विशाल पदार्थों का रूप-दर्शन भाण्डार के पदार्थों पर दृष्टि ले जाना आवश्यक है। ये पदार्थ तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—

(क) पृथ्वी-स्थित पदार्थ, जैसे पर्वत, मैदान, मरु-भूमि, कुंज, पेड़-पौधे, लता-पत्र, छाया, घास-पात, फल-फूल, पशु-पक्षी आदि के आकार-प्रकार ।

(ख) समुद्र, झीलें आदि ।

(ग) आकाश, मेघ, बिजली, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा, पाला, धुआँ, कुहरा, वर्षा, पवन, चन्द्रमंडल, आकाश-गंगा, नीहारिका, उषा, संध्या, इन्द्रधनुष, टूटता तारा, आँधियाँ, धूप, चाँदनी, किरण, व पक्षियों का विहार आदि ।

प्रकृति के सभी पदार्थों का—उनकी सब जातियों व विविधताओं सहित—एक ही कवि के द्वारा विगद चित्रण संभव नहीं । केवल यही देखा जा सकता है कि कवि औसत निरीक्षण-सीमा से प्राचीन कवियों से कितना आगे बढ़कर अपना दृष्टि-विस्तार व आत्म-प्रसार कर सका है । फिर कवि-कवि की रुचि में भी तो अंतर होता है । किसी को प्रकृति के कोमल रूपों के चित्रण में (जैसे कीट्स, पंत, प्रसाद, सूरदास) अधिक आनंद आता है, तो किसी को कठोर रूपों के चित्रण में (भवभूति, जेली, प्रसाद, रत्नाकर) ; किसी की रुचि भव्य की ओर अधिक होती है (कालिदास, मिल्टन, प्रसाद) तो किसी की सामान्य या साधारण की ओर (वर्डस्वर्थ, मैथ्यू आर्नल्ड, कालिदास, भवभूति) ; किसी की दृष्टि समुद्र पर अधिक तीव्रता से जाती है (जैसे बायरन, प्रसाद, माघ) तो किसी की आकाश की ओर (जेली, पंत) । अतः एक ही कवि में प्रायः समस्त वस्तु-विस्तार कम ही मिलता है । यही बात बीसवीं शताब्दी के हिन्दी कवियों की है । हां, सांख्यिक दृष्टि से देखने पर अवश्य हमें इस बात का परिचय मिलता है कि उनका दृष्टि-विस्तार पर्याप्त व्यापक और प्रकृति-प्रेम स्तुत्य रहा है । वर्णन की गुंजाइश प्रायः प्रबन्ध काव्यों में ही होती है इसलिए प्रकृति का विस्तृत वर्णन इस युग के प्रबन्ध-काव्यों—प्रिय-प्रवास, साकेत, कामायनी,

बुद्धचरित, सिद्धार्थ, नूरजहाँ, हल्दीघाटी, पथिक, स्वप्न, मिलन, पंच-वटी, कुणाल, सिद्धराज, आदि—ये ही अधिक हुआ है। मुक्तक काव्य व गीतों में या तो उनकी झलक मात्र दी गई है या प्रकृति के प्रति अनुराग की व्यंजना हुई है। कहीं-कहीं वस्तुओं के नाम मात्र ही गिना कर रसम अदाई हो गई है। यथा —

जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आवला ।
लीचा दाड़िम नारिकेल इमिली औ शिंशपा इंगुदी ।
नारंगी अमरूद विल्व बदरी सागौन शालादि भी ।
श्रेणी-बद्ध तमाल ताल कदला औ शालमली थें खड़े ॥ (प्रियप्रवास, ६)
पंकज, रम्भा, मदन मल्लिका, पोस्त गुलाब-गुकुल का ।
रक्तक कुन्द-कला, पिक किंशुक, नरगिस, मधुकर-कुल का । (पथिक)

पर ऐसे स्थल कम ही हैं ।

अधिकांश कवियों ने हरे-भरे मैदानों के सौन्दर्य पर ही दृष्टि डाली है। पर पर्वत व मरु-भूमि का भी सौन्दर्य विलक्षण व मोहक होता है। प्रसाद, पंत, 'हरिऔध', उदयशंकर भट्ट व रामचन्द्र शुक्ल ने पार्वतीय सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण किया है। 'कामायनी' के चिता, आशा, स्वप्न, रहस्य व आनंद सर्गों में हिमालय पर्वत का मनोमोहक चित्र अंकित हुआ है। पंत जी तो हिमालय के साथ एकाकार ही हो गये हैं। इस दृष्टि से उनकी 'स्वर्ण किरण' की 'हिमाद्रि' कविता हिन्दी-साहित्य की एक अनमोल निधि है। 'परलव' का पर्वत-प्रदेश का सौन्दर्य देखिए —

पावस ऋतु श्री पर्वत प्रदेश; पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश ।
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार, नीचे जल में निज महाकार;
जिसके चरणों में पला ताल दर्पण सा फैला है विशाल !!
गिरि का गौरव गाकर भर भर, मद से नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर भरने हैं भाग भरे निर्भर ।

गिरिवर के तर से उठ-उठ कर उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं भका रहे नारव नभ पर, अनिमेष, अटल, कुछ दिन्तापर !
उड़ गया, अचानक, लो भूधर फड़का अपार पागद के पर !
रव-रोष रह गये हैं निर्भर ! हे टूट पड़ा भू पर अम्बर !

पं० उदयशंकर भट्ट ने अपने 'विजय पथ' (३ रा सर्ग) में हिमालय का जो संक्षिप्त चित्र अंकित किया है वह परम रमणीय है। कुछ पंक्तियाँ देखिए -

उन्नत शिर तरु खड़े तपस्वी-भे दिखते थे,
प्रतिपल निर्मल हिम रज से सुस्नात वान से,
तपः पूत वे एक पाद अज्ञात कामना,
शान्त 'अहं' से हीन पान वक्षस्थल उन्नत,
और कहीं मृग भुण्ड विचरते घूम रहे थे—
स्वेच्छा भे, आकार निरतिशय अपनी गति से,
चमरा मृग भी कामी उधर आकर रुका जाते,
पाकर जल पंपूप बैठते 'औ' तन्मय हो—
रामन्थन में प्राणों का उत्सव वे पाकर,
मुक्त विवशता से आर्तान्दत आने जाते।

'हरिऔध' जी ने 'प्रियप्रवास' में (६ सर्ग) गोवर्द्धन का जो वर्णन किया है वह यद्यपि बहुत-कुछ रूढ़ हो गया है, पर फिर भी उसमें कहीं कहीं मौलिक निरीक्षण पर्याप्त सूक्ष्म है। शुक्ल जी ने भी 'बुद्ध चरित' में चित्रकार की प्रतिभा से गिरि-प्रदेश का रमणीय सौन्दर्य अंकित किया है।

मैदान के निवासी प्रायः मरुभूमि में सौन्दर्य नहीं देख पाते। किन्तु विधाता ने अपनी कोमल अंगुलियों में पकड़ी तूलिका की मसृण नोक से जो महीन सौन्दर्य-शिल्प वहाँ की काजल-सी महीन बादामी बालू के टीलों पर अंकित किया है, वह कोई सच्चा कवि-हृदय ही देख सकता है। वहाँ के जाँठ के फँटीले पेड़ों, संध्याकालीन सूर्य की सिन्दूरी

आभा में जाती हुई अँट की कतारों, जेठ की लू व शरबती चांदनी रातों, और झाड़ियों पर चमकती हिम-किरणों का सौन्दर्य प्रभु के सौन्दर्य-भांडार की अनमोल निधियां हैं। हर्ष की बात है कि पं० पतराम शर्मा गौड़ 'विशद' ने 'रेगिस्तान', श्री चन्द्रसिंह ने 'बादली' व 'लू' (राजस्थानी), तथा श्री परमेश्वर 'द्विरेफ' ने 'मरु के टीले' व 'धूल के फूल' नामक काव्यों की रचना करके अपनी विकसित सौन्दर्य-भावना का परिचय दिया है। 'विशद' जी के 'रेगिस्तान' काव्य की कुछ पक्तियाँ देखिए—

बालू का चंचल लहरों पर लिखे हुए हैं कोमल गान ।
चपल हिलोरो पर भंभा के—झुला दिये मैने निज गान ॥
जाना मिट्टी, मरना मिट्टी, मृत्यु-अमरता से गम्भीर—
हैं ये अँने मरु के टीले, चौर-उदधि से भी गम्भीर ॥
शरद काल की शुभ्र बहरी है सच्चे मोती के चूर ।
जमी हुई वा चन्द्र-उयासना, अथवा बिखरे हुए चपूर ॥
धूल डाल दी तुमने उन पर, खिले हुए जो केसर-वयार !
जल-विहीन कश्मीर शुष्क तुम ! बिखरी किस नन्दन का द्वार ॥
भूरे भूरे टीलों में जब उषा खड़ी, हाला की भूख—
मिटा रही, टीले के पीछे भांक रही हों मूर्य-मयूख ॥
यहाँ मर्तारों का क्या कहना, कौन बताता है अंगूर ?
थके हुए को अमृत जैसा, बतलाते कविगण भरपूर ॥

कवियों की दृष्टि मैदानों के सौन्दर्य की ओर सब से अधिक गई है इसलिए इनका वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक हुआ है। पेड़-पौधे, लता-पत्र, फल-फूल, खेत-कुंज, नदी-नाले, पशु-पक्षी आदि का जो वर्णन हुआ है उसको देख कर यह निसंकोच कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी-कवि प्राचीन निर्जीव सीमाओं को तोड़ कर स्वच्छन्दता-पूर्वक आगे बढ़े हैं और अपने दृष्टि-विस्तार का सुन्दर परिचय दिया है। आधुनिक काल में प्रायः मुक्तक रचनाएँ ही अधिक हुई हैं अतः इनमें प्राचीन प्रबन्ध-काव्यों के उपयुक्त विस्तृत वर्णन का बहुत कम अवसर सम्भव हो सका

है। अतः हम पंत जैसे कवियों को छोड़ कर यदि व्यक्तिगत दृष्टि से देखें तो प्रकृति-चित्रण की बहुत विशदता व गहराई कदाचित् न मिले। किन्तु यदि बीसवीं शताब्दी के हिन्दी-कवियों के सामूहिक हृदय को लेकर विचार करें तो इसमें कोई संशय नहीं कि प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में उन्होंने अपनी महान् अनुभूति व आत्म-विस्तार का परिचय दिया है। इसलिए श्री शिवदानसिंह के इस कथन का 'पन्त जी या दो-एक और कवियों में ही प्रकृति-निरीक्षण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी है। इस प्रकार प्रकृति के जो अंग सामाजिक जीवन के उपयोगी भाग थे वे अब तक की हिन्दी-कविता में अलंकार बन कर या उसके भावों के उद्दीपन मात्र बन कर आये। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व, जिनके कारण वे हमारे सहचर या सहयोगी हैं, कविता में लेशमात्र को ही स्वीकार किया गया।'* पर्याप्त समर्थन करते हुए भी हम कहना चाहेंगे कि प्रकृति-निरीक्षण की ओर हिन्दी कवियों की रुचि, उसके इतिहास को देखते हुए, पर्याप्त सन्तोषजनक कही जा सकती है।

सब से पहले पेड़-पौधों से आरम्भ किया जाय। कविजन परम्परागत पेड़ों के उल्लेख या वर्णन से आगे भी बढ़े हैं। 'हमिऔध' जी ने तो प्रिय-प्रवास, (सर्ग ६) में पूर्व-वर्णित पेड़ों के नाम गिना कर (जम्बू, अम्ब, कदम्ब, निम्ब, फलसा, जम्बीर, आँवला, लीची, दाड़िम, नारिकेल, इमिली, शिशपा, इंगुदी, नारंगी, अमरूद, विल्व, बदरी, सागौन, शाल, तमाल, ताल, कदली, शाल्मली आदि उनका यमक-प्रधान चमत्कारपूर्ण वर्णन कर दिया है। नवीन कवियों ने यह सूची और बढ़ी कर दी है। पंत जी की दृष्टि चीड़, शाल, बाँस, नीम, चिलबिल, सफेदा (युक्लिप्टिस), नीबू, आड़ू, दाड़िम, कटहल, जामुन, भरबेरी, आँवला, और सूखे हुए ठूठे तरुओं पर भी गई है। नरेन्द्र को पलाश व अमल-

* श्री शिवदानसिंह चौहान, 'प्रगतिवाद' (१९४६); 'हिन्दी-कविता में पेड़-पौधे, फूल, पशु-पक्षी' नामक लेख।

ताश भाये हैं। 'दिनकर' बाँसों की हरियाली (रेणुका) पर फिदा हैं तो 'बच्चन' गुलमुहर (मिलन यामिनी) पर। 'प्रसाद' को देवदारु प्रिय है। निराला खिरनी के पेड़ (आराधना) पर रीझे हैं और राम-नरेश त्रिपाठी चिनार (स्वप्न) व खजूर (पथिक) पर। शुक्ल जी महुए को देख कर मस्त हुए हैं और गुरभक्तसिंह 'भक्त' जंगल की झाड़ियों व अन्य सामान्य पेड़ पौधों पर ('वन श्री' व नूरजहाँ)। 'नेमाली' देहरादून के बेरों के लिए रुमाल बिछाते हैं तो 'विशद' जी रेगिस्तान के टींटण भूडिया नामक झाड़ों पर लट्टू है।

प्रकृति के स्वरूप, सामान्य व शान्त-एकान्त स्थानों का वर्णन पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ('प्रेमधन सर्वस्व' पृ० २, ६, ५०) ने भी पूर्ण सजीवता व रसात्मकता के साथ किया है। प्रकृति के भीषण रूपों के प्रति भी कवियों ने अपनी मौन्दर्य-भावना का गूढ़ परिचय दिया है—जल प्लावन (कामायनी, १) भंजावात व उपल वृष्टि (प्रिय-प्रवास २, कामायनी, १) व परिवर्तन का भीषण स्वरूप ('वत्सव' की 'परिवर्तन' शीर्षक रचना) भी अंकित हुआ है।

लता-बेल व छोटे-बड़े पौधे भी इस विस्तार की सीमा में समाविष्ट हैं। 'हरिऔध' जी ने 'प्रियप्रवास' में साहित्य में प्रसिद्ध लतायें गिनाई हैं—माधवी लता, लवंग लता, प्रियंगुलता, रत्तिकालता, गुंजिका आदि। 'प्रसाद' जी को माधवी व लवंग लताएँ ही आकर्षित करती हैं किन्तु नये-नये झाड़-पौधों व बेलों की भी ओर कवियों की दृष्टि उठी है। गुप्त जी को करौंदी-कुंज (साकेत, ८) भाया है। 'दिनकर' को 'वन-तुलसी' (रेणुका) का ध्यान मधुर लगता है क्योंकि हलकी पुरवैया उसकी गन्ध लिये आ रही है। शुक्ल जी भड़भाड़ या सत्यानाशी की झाड़ियों को गौर से देखते हैं। पंत जी व 'विशद' जी तरबूजों व मतीरों की बेलें भी विस्मृत नहीं करते। गुप्त जी देहात के घास-फूस के छप्परों पर फैली लौकियों को भी सात्विक स्नेह से देखते हैं।

फूलों की सीमा का भी विस्तार हुआ है। पंत जी, शुक्ल जी, गुरुभक्तसिंह व अनेक नवीन पीढ़ी के कवि सरसों, कुई, कनेर, लोध, पाटल, अलसी, तीसी आदि के फूलों को भी प्यार से देखते हैं। 'प्रसाद' को कालिदास के शिरीष, कदम्ब व शेफाली (कामायनी) प्रिय हैं। 'बच्चन' को गुलहजारा (मिलन यामिनी) व पं० उदयशंकर भट्ट को कल्हार (विजय पथ) तथा पं० माखनलाल चतुर्वेदी को गुलसब्बो (हिमकिरीटिनी) आनन्ददायक हैं। नरेन्द्र ट्वीड के कोट में प्रिया के हाथ से फूल लगवा कर पहनते हैं (प्रभात फेरी)। पंत Sweet Peas और California Poppies के प्रति भी आकृष्ट हुए हैं।

मोती-से हिम-बिन्दुओं से जटित हरियाली की शोभा कम आकर्षक नहीं। पंत, अज्ञेय, गुरुभक्त सिंह, रामचन्द्र शुक्ल 'रत्नाकर' आदि कवि इसकी शोभा पर मुग्ध हुए हैं। 'दिनकर' जगती का आदर ही केवल इसलिए करते हैं कि यहाँ दूब जैसे सुखद पदार्थ विद्यमान हैं (रेणुका)। रामकुमार वर्मा (रूपर.शि), पंत (युगवाणी) और गुरुभक्तसिंह (वन श्री) ने ओस बिन्दुओं की शोभा को खूब निहार है।

नगरों की सीमाओं को छोड़ कर कवियों के चरण ग्रामों की ओर भी उठे हैं और उधर उन्होंने क्षितिज-व्यापी खेतों की शोभा को देखकर अपने नेत्र तृप्त किये हैं। रामेश्वरी 'चकोरी' (किंजलक) शिवमंगलसिंह 'सुमन', पंत, गुरुभक्तसिंह, दिनकर, 'नीरज' 'शेष', राजनारायण बिसारिया व रामकुमार चतुर्वेदी आदि ने ग्राम-माधुरी में मन को निमग्न किया है। 'दिनकर' ने सायंकालीन खेतों पर स्वर्णाचला संध्या श्यामपरी को उतरते देखा है (रेणुका) और 'नेपाली' (उमंग) ने हरे-भरे खेतों के पास से गुजरती पगडण्डी पर जाते डंगरों के कंठों की घंटियों का मधुरनाद कान खोल कर सुना है। लहराते कांस व उड़ते सूखे पत्ते भी पंत की दृष्टि से बच नहीं सके हैं। ग्राम के उन्मुक्त वातावरण के सौन्दर्य को नवीन प्रगतिवादी कवियों ने बड़े उत्साह से अंकित किया

है, इसमें कोई सन्देह नहीं। 'अप्सरा' की सूक्ष्म सौन्दर्यमयी दिव्य सृष्टि करनेवाले पंत भी खेतों की हरी-भरी ताजी शाक-सब्जियों का वर्णन बड़े हुलस से करते हैं। अलू, गोभी, बैंगन, मूली, पालक, धनियाँ, लौकी, सेन, टमाटर, भिर्च, गेहूँ के बाल, अरहर, सरसों आदि को देखकर वे लहलहा उठे हैं। पंत जी को चित्तीदार अमरूद भी बहुत पसन्द जान पड़ते हैं।

पशु-पक्षी भी हमारे जीवन के अभिन्न अंग हैं। उनसे हमारा आदिम रागात्मक सम्बन्ध है। गुप्त जी ने पेड़ से टूट कर गिरे पत्तों के स्पर्श के कारण वेह में आई हुई फुरहरी वाले घोड़ों के वर्णन में सूक्ष्म निरीक्षण का सुन्दर परिचय दिया है (साकेत ८)। 'नेपाली' ने पेड़ों में क्रीड़ा करती गिलहरियों की गति-विधि को मनोयोगपूर्वक अंकित किया है (उमंग)। 'दिनकर' ने साँभ में रोमंथन करती व हरी घास को खुरों से रौंदती आती गायों का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है (रेणुका)। पंत ने तूल में मार्जा-बाला (अन्थि) को देखकर व बादलों की उपमा मेमनों के बाल में देकर (पल्लव) अपना पशु-प्रेम सूचित किया है। उदयशंकर भट्ट चमरी मृग के प्रति आकर्षित हैं। शुक्ल जी घुड़की देने वाले बन्दर से भी नाराज नहीं होते। राम-भक्त-कवि तुलसी के आलोचक, हनुमान के अनुचर पर रीझ कर अपना प्रेम व्यक्त करें, यह सर्वथा उचित ही है। 'हरिऔध' जी ने भवभूति की परम्परा में रह कर भीषण व भयावह प्रकृति के प्रति भी अपनी रागात्मकता दर्शाई है। उन्होंने प्रिय प्रवास (सर्ग ६) में लाल मुँह के लम्बी पूछों वाले बन्दरों, चल-चक्षु चीतों, पृथुलांग गौरवियों व बड़े बलवान व विशाल बैलों का भी जिक्र किया है।

पक्षियों में पपीहा, मोर, कोयल, तोता, मैना, कुररी, कौच, खंजन, सारस, चकोर आदि के अतिरिक्त कबूतर (नरेन्द्र शर्मा ; प्रवासी के गीत, व 'साकेत') काकातुआ (प्रिय प्रवाह) फुलमुँही (पंत : ज्योत्स्ना),

लाल (साकेत), बगुले, सुर्खाब, मगरौठी, सामुद्रिक, धोबिन, अबाबील, टिटहरी, बया, पीलो (पंत : युगवाणी) आदि अनेक पक्षियों तक भी हृदय की रागात्मकता का विस्तार हुआ है ।

चींटी ('गुजन', युगवाणी), मकड़ी, (साकेत ६) व 'मीन' भी कवियों के उदार निरीक्षण के अधिकारी रहे हैं ।

समुद्र व भीलों का वर्णन हमारे आधुनिक काव्य में कम ही मिलता है । 'कामायनी' का प्रलय के जल-प्लावन का अनूठा वर्णन तो प्रसिद्ध ही है । 'प्रसाद' ने लहर में 'पैशोला की प्रतिध्वनि' में उदयपुर की पीछोला झील का व 'कामायनी' के अन्तिम सर्ग में मानसरोवर का सुन्दर वर्णन किया है । पं० रामनरेश त्रिपाठी ने पथिक के आरम्भिक सर्गों में समुद्र का यत्र-तत्र कुछ वर्णन किया है । वस्तुतः इस काव्य में समुद्र के विस्तृत वर्णन का पर्याप्त अवसर निकल सकता था पर त्रिपाठी की दृष्टि शायद कथा की ओर ही अधिक थी ।

नदियों व झरनों का अपेक्षाकृत अधिक वर्णन हुआ है । भारतेन्दु 'गंगा वर्णन', 'यमुना वर्णन' गुप्त जी (पंचवटी), 'रत्नाकर' (गंगा-वतरण) व 'पंत' ने नदियों के वर्णन में अच्छा उत्साह दिखाया है । रत्नाकर ने तो गंगा के अवतार का अत्यन्त भरापूरा वर्णन प्रस्तुत किया है । 'पंत' (पल्लव) 'प्रसाद' (झरना) भगवतीचरण वर्मा (मधुकुण) 'दिनकर' (रेणुका) आदि कवियों ने झरनों के सुन्दर वर्णन किये हैं ।

कवियों की दृष्टि पृथ्वी से आकाश की ओर भी उठी है जो अंग्रेज कवि शेली की तरह वहीं नहीं रुक गई । छायावादी कवि को तो प्रगति के युग में आकाश से पृथ्वी पर उतर कर आना पड़ा । नरेन्द्र शर्मा ने लिखा ('प्रभात फेरी' की भूमिका)—“मैं चाहता हूँ कि सत्य और सौंदर्य की खोज में निर्भीक होकर और ऊँचा उड़ सकूँ, लेकिन जगद्धात्री पृथ्वी से विमुख हो, महत्वाकांक्षा के सूर्य तक पहुँचने की

इच्छा से उड़ने वाले संपाती की भाँति नहीं।” पंत जी का भी आग्रह हुआ—“देखो भू को, पुण्य प्रसू को।” और ‘दिनकर’ ने भी गाया—

व्योम कुंजों की परी अथि कल्पने, भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं,

आ न सकते हम तुम्हारे पास तो, भूमि पर ही आ बसा अलका यहीं। —रेणुका

जो हो, हमारे कवियों ने आकाश की विशाल चित्रपटी के चित्र भी ध्यानपूर्वक देखे। प्रसाद (कामायनी), पंत (युगवाणी, ग्राम्या), और निराला (अनामिका) ने मुक्त आकाश के प्रति प्रेम व्यक्त किया। पंत, निराला व भगवतीचरण वर्मा ने बादलों का विस्तृत सूक्ष्म वर्णन किया। इन्द्र-धनुष का सौन्दर्य भी देखा गया किन्तु वर्डस्वर्थ के जैसे उल्लास से नहीं। प्रसाद ने ‘सुरधनु-रंजित नव जलधर’ को देखा व पंत ने उसकी अनेक रूपों में कल्पना की (पल्लव : ‘बादल’ नामक कविता)। नीहारिका और स्वर्गगा का सौन्दर्य महादेवी व पंत ने विशेष रूप से अंकित किया। प्रसाद, पंत, आरसीप्रसाद सिंह आदि कवियों ने चांदनी के प्रति मधुर-कोमल भावनाएँ व्यक्त कीं। यों यह विषय व्यापक व सामान्य महत्व का है। श्री ‘गुलाब’ खण्डेलवाल ने ‘चांदनी’ में अपनी तत्सम्बन्धी लगभग ५० कविताएँ संगृहीत की हैं। श्री राजनारायण बिसारिया की भी चांदनी सम्बन्धी भावना बहुत कोमल है। संध्या का पंत (युगवाणी, गुंजन), निराला (परिमल) व प्रसाद (कामायनी) आदि कवियों ने सुन्दर वर्णन किया है। उषा और प्रभात पर कौन कवि नहीं लिखता किन्तु प्रसाद (लहर : बीती विभावरी जागरी) और पंत के स्वर से उषा की भावना का जो उल्लास फूटा है वह उत्फुल्लकारी है।

प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र पर आधुनिक हिन्दी-कवियों की दृष्टि कितनी विस्तृत रही है, इसका उपरोक्त विवेचना से कुछ अनुमान हुआ होगा। किन्तु कवि के इस विस्तार मात्र से ही हम संतुष्ट नहीं हो सकते। विस्तार के साथ कितना और कैसा गांभीर्य है, यह देखना भी इष्ट है। उसी से प्रतीत होगा कि कवि के हृदय में प्रकृति के प्रति

कितना गूढ़ प्रेम है और प्रकृति की सौन्दर्य-माधुरी का आकंठ-पान करने के लिए उसका हृदय कितना खुला हुआ है ।

(ख) सूक्ष्मदर्शिता व तूलिका-कौशल

कभी कभी कवि अवकाश व अन्तर्मुखता के प्रशान्त क्षणों में अपने आपको विश्व-प्रपंच से पूर्णतः समेट कर प्रकृति के किसी एक ही पदार्थ— तारा, लहर, ओस-बिन्दु, पुष्प, चन्द्र आदि— में पनडुब्बे की तरह डुबकी लगा जाता है और भावों के मोती निकालने लगता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि जब तक कवि को उस पदार्थ के प्रति प्रेम नहीं होगा तब तक उसकी दृष्टि उस पर टिकेगी भी नहीं । पर जहाँ उस वस्तु के प्रति मौलिक आकर्षण से वह उधर खिंचता है वहाँ यह भी सत्य है कि चिन्तन या कल्पना की प्रक्रिया में वह पदार्थ तो गौण ही रह जाता है; कल्पनात्मकता और भावाकुलता (हाँ, अपने मूल रूप में वे सम्बद्ध उस पदार्थ से ही रहती हैं) ही प्रमुख हो उठती हैं । परिणाम यह होता है कि कवि छोटे से साबुन के टुकड़े को मथ-मथ कर ढेर ढेर फेन-राशि तैयार करने लगता है । सूक्ष्मवीक्षणमंत्र से जैसे एक छोटा सा बाल मोटा सा रस्सा दिखाई पड़ने लगता है उसी प्रकार कवि को उस एक ही पदार्थ में ब्रह्माण्ड का समस्त रूप-व्यापार— श्रीकृष्ण के मुख में दिखाई पड़ने वाली ब्रह्माण्ड की झांकी की तरह— दिखाई पड़ने लगता है । मूल पदार्थ तो निमित्त मात्र ही रहता है, विभाव के रूप-चित्रण का प्रयास नहीं के बराबर रहता है; हाँ, दार्शनिक कल्पना का घटाटोप ही प्रमुख हो जाता है । सूक्ष्म कल्पना-जीवी कवि ही प्रायः इस प्रकार के कल्पना-विलास में लीन होते हैं । ऐसी रचनाएँ कवि की एकान्तिक सूक्ष्मदर्शिता व गंभीर मनोयोग की क्षमता की परिचायिका होती हैं ।

पंत जी की कविता 'एक तारा' (गुंजन) इसका बहुत सुन्दर उदाहरण है । 'स्याही का बूँद' और 'छाया' नामक कविताएँ भी इस

दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । 'प्रसाद' जी का गीत 'उठ उठ री लघु लघु लोल लहर' भी इसी वर्ग की रचना कही जा सकती हैं । कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक क्षुद्र ओस-बिन्दु में विराट् को समाविष्ट कर दिया है । इस प्रकार की रचना का एक उदाहरण पंत जी की 'एक तारा' नामक रचना से यहाँ दिया जाता है —

पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमन्द नक्षत्र एक !
अकलुष अनिन्य नक्षत्र एक ज्यों मूर्तिमान ज्योतिर्विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक ।

*

*

*

चिर अविचल वह तारक अमन्द ।
जानता नहीं वह छन्द-बन्ध !
वह रे अनन्त का मुक्त मीन अपने असंग-सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन ।
निष्कम्प शिखा सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रगुद्ध, शुक्र वह सम !
नक्षत्र के प्रति आत्मिक प्रेम के बिना कल्पना की यह उड़ान
कब सम्भव है !

इसी प्रकार कवि चित्रकार की तरह दत्तचित्त होकर प्रकृति का निरीक्षण करता है व रमणीय शब्द-चित्र अंकित करता है । इस प्रयत्न में भी उसका गूढ़ अनुराग झलकता है । उदाहरण लीजिए —

कँटासी बसवारिन को रक्वा जहाँ मरकत ।
बीच बीच कंटकित वृक्ष जाके बढ़ि लरकत ॥
छाई जिन पै कुटिल कटीली बेलि अनेकन ।
गोलहु गोली भेदि न जाहि जाहि बाहर सन ॥
जाके बाहर अति चौड़ी गह्वरी लहराती ।
स्वंधक तीन ओर निर्मल जल भरी सुहाती ॥

— 'प्रेमधन'

पं० रामचन्द्र 'शुक्ल' चित्रकार की सी प्रतिभा से सूक्ष्म तूलिका-कौशलपूर्ण शब्द-चित्र अंकित करने में निष्णात हैं। देखिए, निरीक्षण कितना सजीव व स्पष्ट है —

पुलकित पुनि लखि परत लहलहे खेत मनोहर
चुम्बन सों अनुरागवती ऊषा के सुन्दर॥
प्राची आशा कहन लगति दिनरात्र आवार्ड
पहले घेवल धुन्व सरीखो परत लखार्ड॥
किन्तु पुकारै अरुण चूड जौ लौं पुर भीतर
आभा निखरति शुभ्र रेख सी शैलशीर्ष पर॥
लागति परसन होति शुभ्रतर सो अब क्रम क्रम
देखत देखत होति स्वर्णपीताम्भ धार सम॥
अरुण नील औ पीत होत घनखण्ड मनोरम,
काहू पै चढ़ि जाति सुनहरी गोद चमाचम।

—'बुद्ध चरित'

प्रसाद ने प्रेम पथिक व "कामायनी" में तथा पंत ने 'भुंजन' व 'आभ्या' आदि रचनाओं में इस ओर अच्छी प्रवृत्ति दिखाई है।

(ग) गति-विधि

प्रकृति के पदार्थों को कवि ने मनोयोगपूर्वक देखा है, इसका परिणय हमें इस बात से भी मिलता है कि उसने उन पदार्थों की गति-विधि को भी दृष्टि गड़ा कर देखा है या नहीं। पदार्थों की स्थिति-परिस्थिति, रूप-रंग आदि का वर्णन होने पर भी यदि उनकी क्रिया या गति-विधि के प्रति कवि सजग नहीं हैं तो उसका प्रकृति-निरीक्षण सर्वांगीण नहीं सम्भवा जायगा। पेड़-पौधों, पक्षु पक्षियों, मेघों, जलोशयों आदि में नाना प्रकार की गति-विधियाँ दिखाई पड़ती हैं। कभी पेड़-पौधे तेज हवा में नाचते दिखाई पड़ते हैं, कभी शांत व निश्चल पत्ते सहसा उठी पवन-लहरों से, नींद में चौंक उठने या बरस उठने वाले व्यक्ति की तरह, क्षण भर हिल कर या मर्मरा कर पुनः स्तब्ध-शांत हो जाते

हैं। वसन्त पवन में आन्ध्र मंजरियाँ लहकती दिखाई पड़ती हैं। आकाश में बादल कभी तो मृग से चौकड़ी भरते हैं, कभी कछुए से रंगते हैं, और कभी रूम-भूम कर उमड़-धुमड़ कर संसार को जलमग्न करने का संकल्प लिए-से दौड़े आते हैं। पक्षियों के अंगों में रोमांच व स्पन्दन होते हैं, फुरहरी आ जाती है, अज्ञात आनन्द-तरंग से उनकी काया थिरकने फुदकने लगती है। तितलियाँ लहलहाती हैं। कभी सेमल की रूई का एक तंतु अपनी नींद-भरी गति से पवन-लहरियों पर तैरता-फिरता दिखाई पड़ता है। जल की लहरें मचलती हुई, फिसलती हुई बढ़ती हैं। बिजली क्षण भर में कौंध कर लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार और भी सैकड़ों प्रकार की गति-विधियाँ होती हैं। कवि जब हमें इन सूक्ष्मताओं का परिचय देता है तो हम उसकी सूक्ष्म निरीक्षण की प्रतिमा से प्रभावित होते हैं और प्रस्तुत चित्र के अनुशीलन से आनंदित होते हैं। 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में प्रलय काल के समुद्र की, 'रत्नाकर' ने 'गंगावतरण' के समय गंगा की व 'निराला' (बादल राग) भगवतीचरण वर्मा (मधुकण) तथा पंत (बादल) ने वर्षारंभ के मदोन्मत्त बादलों की प्रचण्ड गति-विधि का बहुत ही मार्मिक अंकन किया है। पंत जी अपने दृश्य को सुस्थिर होकर, बहुत धैर्यपूर्वक आँख गड़ा कर देखने में पटु हैं। वर्षान्त के रजत-धवल, झीने, जालीदार फूले-फूले धुनी रूई से बादलों (देखिए 'बादल'), चांदनी रात में नदी की लहरों ('नौका विहार') व पर्वत प्रदेश के क्षण क्षण परिवर्तित दृश्यों ('पल्लव' की 'उच्छ्वास' तथा 'स्वर्ण किरण' की 'हिमाद्रि' शीर्षकिनी कविताएँ) को जिस तल्लीनता व सूक्ष्मता से देखा है वह बहुत प्रशंसनीय है। 'नेपाली' गुरुभक्तसिंह, शंभूनाथ 'शेष', 'नीरज', व राजनारायण बिसारिया आदि कवियों ने भी इस दिशा में अच्छी रूचि प्रदर्शित की है। कुछ उदाहरण देना ठीक होगा—

धारा बह जाती, बिम्ब अटल। (कामायनी : 'दर्शन' सर्ग)

च्युत पत्र पीठ पर पड़े, फुरहरी आई,
घोड़ों ने ग्रीवा मोड़ दृष्टि दौड़ाई। (साकेत : न वा सर्ग)

* * *

नव उज्ज्वल जल-धार हार हीरक सी सोहति
विच विच छहरति बूँद मध्य मुक्तामणि पोहति ('भारतेन्दु' : गंगा-वर्णन)

* * *

डाँड़ों के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार।
चाँदी के साँपो-सी रलमल नाँचतीं रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं मी खिंच तरल सरल।
लहरों की ललितकाओं में खिल, सौ सौ शशि, सौ सौ उड़ू मिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल।

(पंत : नौका विहार)

* * *

भूम भूम मृदु गरज गरज धन धोर।
राग अमर ! अम्वर में भर निज रोर !

* * *

उथल पुथल कर हृदय.....

मचा हलचल, चल रे चल, मेरे पागल बादल।

धँसता दलदल, हँसता है नद खलखल

बहता कहता कुलकुल कलकल कलकल।

—(निराला 'बादल')

(घ) वर्ण-भावना

जिस प्रकार प्रकृति के क्षेत्र की ध्वनियों का अनुकरण किया जाता है उसी प्रकार काव्य-चित्र में पूरी सजीवता लाने के लिए रंगों का विधान भी किया जाता है। पाठक के मन में वस्तुओं का पूर्ण प्रतिबिम्ब डालने के लिये उनके आकार-प्रकार और स्थिति का कथन मात्र ही पर्याप्त नहीं होता। उनके रंगों का भी वर्णन करने से चित्र में पूर्णता आती है। वर्ण-योजना और नाद-योजना के अभाव में 'बिम्ब ग्रहण' में कुछ अधिक बाधा तो नहीं पड़ती, किन्तु इन दोनों के संयोग से

माधुर्य उत्पन्न होता है जो रसानुभूति में सहायक होता है। एक तो यह कहना कि “सन्ध्या के आकाश में बा ल फैल गए।”, और फिर यों कहना कि “डूबते हुए अरुण सूर्य की लालिमा से, क्षितिज से कुछ ऊपर हट कर फैले हुए बादलों के सूर्योन्मुख अंग लाल-से हो गए।” तो दोनों में अन्तर है। एक में कवि की वस्तु के प्रति नत्थलीनता लक्षित नहीं होती, और दूसरे में होती है। केवल इतिवृत्तात्मक कथन से काम चलना काव्य नहीं, पाठक के हृदय में दृश्य वैसा का वैसा उतरना चाहिए जैसा बाहर है। अंग्रेज कवि टेनिसन् के विषय में कहा जाता है कि उसने प्रकृति-क्षेत्र के सब रंगों और ध्वनियों का वर्णन किया। आर्नल्ड, रोज़र्टी व कीट्स में भी यह प्रवृत्ति विशेष प्रकार से लक्षित होती है। वर्ण-व्यंजना के सुन्दर उदाहरण ये हैं :—

विद्रुम ओ मरकत की छाया,
सोने चांदी का मृश्यातप !
हिम-परिमल की रेशमी वायु
शत रत्न-छाया, खग-चित्रित नभ ।

अथवा, गहरे धुँधले, धुले सांवले
मेघों से मेरे धुले नयन । × × ×

और, × तुहिन वन में छाई सुकुमारि,
तुम्हारी स्वर्ण-ज्वाल सी तान (सोने का गान)

ग्राम के बौरों और भौरों के रंगों का कैसा सूक्ष्म निरीक्षण है —

रूपहले सुनहले आम्र-बौर
नीले, पीले औ ताम्र भौर । (गुंजन)

अथवा, देखता हूँ जब पतला
 इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
 खोलती है कुमुद कला (पल्लव)

‘प्रसाद’ जी ने ‘कामायनी’ में श्रद्धा के रूप-वर्णन में नाना रंगों की जो अनूठी योजना की है वह पूर्ण चित्र-विधाधिनी है। श्रद्धा का अलौकिक रूप देखिए —

मसृण गान्धार देश के नील	या कि, नव इन्द्र-नील लघु शृंग
रोम वाले मेपों का चर्म	फोड़ कर धधक रही हो कांत
ढँक रहे थे उसका वपु कांत	एक लघु ज्वालामुखी अचेत
बन रहा था वह कोमल वर्म।	माधवी रजनी में अश्रांत।
नील परिधान बीच सुकुमार	और उस मुख पर वह मुसवयान !
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग	रक्त किशलय पर ले विश्राम
खिला हो ज्यों विजली का फूल	अरुण की एक विरण अम्लान
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।	अधिक अलसाई हो अभिराम !
आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम	उषा की पहिली लेखा कांत,
बीच जब धिरते हों घनश्याम;	माधुरी से भांगी भर मोद
अरुण रवि-मंडल उनको भेद	मद भरी जैसे उठे सलज्ज
दिखाई देता हो द्यवि-धाम।	भोर की तारक-वृत्ति की गोद !
	(कामायनी : ‘श्रद्धा’ सर्ग)

अंग्रेज कवि शेली वस्तुओं के रंगों पर पूरा ध्यान रखता था। पतझड़ के समय के वृक्षों पर मुझाए हुए पत्तों के रंगों का कैसा निरीक्षण है—

O Wild West Wind, thou breath of Autumn's being,
 Thou from whose unseen presence the leaves dead
 Are driven, like ghosts from an enchanter fleeing,
 Yellow and black, pale and hectic red,
 Pestilence-stricken multitudes :
 (Shelley : Ode to the West Wind)

पतझड़ के समय की आँधी में पत्तों का क्षत-विक्षत होना, उनका काला, पीला, कट्थई आदि पड़ जाना गम्भीर निरीक्षण द्वारा अंकित

किया गया है। इसी प्रकार आर्नल्ड के चित्र भी वर्ण-विधान की दृष्टि से बहुत सम्पन्न हैं। देखिए :—

Oft thou hast given them store
Of flowers—the frail—leaf'd, white anemone.
Dark bluebells drench'd with dew of summer eves.
And purple orchises with spotted leaves—
But none has words she can report of thee.

(Scholar Gipsy)

ऊपर के चित्र में बैंगनी फूलों और लताओं की धब्बेदार पत्तियों का, श्वेत फूलों का, नीले फूलों का जिनकी पँखुरियाँ ग्रीष्म की सन्ध्या के समय की गिरी ओस-विन्दुओं से भीगी हैं, अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन है। उन्हीं का एक सुन्दर चित्र और देखिए—

Through the thick corn the scarlet poppies peep.
And round green roots and yellowing stalks I see
Pale blue convulsions in tendrils creep, ...

(The Scholar Gipsy)

ऊपर की पंक्तियों में कवि ने अनाज के घने पके बालों में से उनके पीछे खड़े अफीम के खूब लाल फूलों, हरी गोल जड़ों और कुछ कुछ पीले पड़े डंठलों, पीलाई लिए नीले पौदों की कोमल लतरों आदि का कैसा भरा पूरा चित्र प्रस्तुत किया है।

कवि प्रकृति का अनुरागी है इसका प्रमाण हमें इस बात से भी मिलता है कि उसकी रंग-भावना कितनी विस्तृत और सूक्ष्म है। जो कवि सरसरी दृष्टि से ही प्राकृतिक रूपों को देख कर काम चलता करते हैं वे बेचारे काला, पीला, हरा, नीला लाल या सफ़ेद इन मौलिक या स्थूल रंगों का उल्लेखमात्र ही करके रह जाते हैं। पर जिन की सूक्ष्म दृष्टि रंगों के विभिन्न भेदों, छायाओं व मिश्रणों को टटोल कर ढूँढ़ निकालती है, वे अधिक सच्चे कवि कहे जा सकते हैं। प्रकृति के

अपार क्षेत्र में न जाने कितने रंगों के पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। रंगों का हृदय पर बड़ा ही गंभीर प्रभाव पड़ता है। अब तो दृश्य-चित्रण में ही नहीं, भावों का भी मूर्त्त व सजीव रूप खड़ा करने के लिए उन्हें रंग प्रदान करके भावना को चटकीला व प्रभावशाली बनाया जाता है। स्वर्णिम स्वप्न, इन्द्रधनुषी अभिलाषाएं, सुनहला प्यार आदि के प्रयोग में यह बात देखी जाती है। रंग-भावना के लिए अंग्रेज कवियों में कीटस् आदि की तरह प्रीरेफेलाइट आंदोलन (Pre-raphalite movement) के अंग्रेज कवि रोजेंटी आदि भी चित्रात्मकता के लिए विख्यात हैं।

हर्ष की बात है कि हिन्दी-कवियों की रंग भावना भी उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती दिखाई पड़ रही है। पंत जी इस क्षेत्र में सबसे आगे रहे हैं। 'ज्योत्स्ना' (नाटिका), ग्राम्या, युगान्त व उत्तरा आदि रचनाओं में उनकी विकसित व सूक्ष्म रंग-भावना के दर्शन होते हैं। 'प्रसाद', 'निराला', महादेवी वर्मा, उदयशंकर भट्ट, 'बच्चन', 'अंचल', गुरुभक्तसिंह आदि कवियों में भी रंगों के प्रति अच्छी सजगता है। रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने तो एक कवित्त में (दे०— पूर्ण संग्रह) पचीसों रंगों के नाम ही गिना दिए हैं :—

धानी आसमानी सुलैमानी मुलतानी
 मूँगी संदली सिंदूरी सुख सोसनी सुहाए हैं;
 कंजई कनैरी भूरे चंपई जंगारी हरे,
 पिस्तई मँजीठी सुरमई घेरि आए हैं।
 मासी नीलकंठी गुलाबासी सुखरासी तूसी,
 कुसुमी कपासी रंग 'पूर्ण' दिखाए हैं;
 नारंजी, पियाजी, पोखराजी, गुलनारी घने,
 केसरी गुलाबी सुवापंखी मेघ छाए हैं।

सब मिला कर कवियों की दृष्टि रंगों की विविधता पर भी गई है और सूक्ष्मता पर भी। पंत जी को धूमधुआरा, गेरुआ, सिंदूरी, धानी, गुलाबी, रूपहला-सुनहला, इन्द्रधनुषी, केसरी, रूपाभ, मूँगिया,

भूरा, स्वर्णाभ, वसन्ती, पारद, धूमिल, सिलहटी, आसमानी, अंगूरी, किशमिशी आदि रंग विशेष प्रिय हैं। 'प्रसाद' को इन्द्रनील, हिम-धवल, चितकबरा, अरुण, स्वर्णिम रंग भाते हैं। गुप्त जी की दृष्टि झाँवरा रंग (यशोधरा) पर भी पड़ी है। 'अंचल' धानी, मोरपंखी, किशमिशी, ईंगूरी, इन्द्रधनुषी व गुलेनारी के प्रति अधिक सजग हैं। बच्चन को सित सेमल व रूपाभ रंग (मिलन यामिनी) भाये हैं। इसके अतिरिक्त कवियों की दृष्टि संदली, दुधिया, बैंगनी, बादामी, सुमेई, कुमुंभी, सोहनी, चम्पई व केरिया रंगों पर भी पड़ी है। शुक्ल जी को स्वर्ण-पीताभ ने खींचा है। पर रंगों की सूची यहीं समाप्त नहीं होने की। यदि कविजन अवकाश-प्राप्त होकर आँख गड़ा कर देखें तो कपूरी, निम्बोई, सौंफिया, शहतूती, केवड़ी अमलतानिया, नारंगी, मोतिया, खरबूजी, तरबूजी, पिस्तई, बादामी, मुलतानी, बिस्कुटी, कासनी, जामुनियाँ, तोत पंखी, खाकी, गेहुँई, लौंगिया, कत्थई, मलयागीरी, शरबती, प्याजी, केलई आदि पचाहों रंग और दिखाई दे सकते हैं।* रंगों की बारीक पहचान देख कर कवि के प्रकृति-निरीक्षण की सचाई के प्रति पाठक का हृदय आश्वस्त होता है। हृदय पर चित्र या वर्णन का प्रभाव तो पड़ता ही है।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रख लेनी चाहिए कि मानव को आनन्द देने वाले इन रंगों में से अधिकांश का नाम प्रकृति के फल-फूलों व अन्य पदार्थों से सम्बद्ध है। प्रकृति मानव को आनंदित रखने में इस रूप में भी सहयोगिनी है।

रंगों के प्रति रुचि भी आयु, लिंग, जाति, मनोदशा आदि के अनुसार ही बदलती रहती है। अतः उसके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बन सकता। हाँ कुछ सामान्य तथ्य स्थिर किये जाते हैं। लाल व नीला

* विशेष देखिए—'कल्पना' (हिन्दी-मासिक) अप्रैल १९५३ के अंक में श्री जगदीश मिश्र का लेख 'हिन्दी में रंगों की नामावली'।

रंग सर्वाधिक प्रिय होते हैं, और नारंगिया व पीला सबसे कम। पुरुषों को नीला रंग सबसे अधिक भाता है और स्त्रियों को लाल। हमारी रूचि का क्रम सामान्यतः यह रहता है—नीला, लाल, बैंगनी, हरा, नारंगिया और पीला।*

(ड) नाद-व्यंजना

हमें हमारे चारों ओर नित्य प्रति नाना प्रकार की कर्ण-मुखद ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। पंछियों का कल कूजन, भ्रमरों का गुंजार, लहूँ का गोमल कलकल, वायु-विकम्पित वृक्षों का मञ्जुल मर्मर स्वर भीगुरों की भंकार, मेघों का मन्द्र-मधुर गर्जन, संगीत की तान, मन्दिरों की घंटा-ध्वनि, भीगुरों की भंकार, पवन का सर्राटा आदि नाना प्रकार की ध्वनियाँ हमारे हृदय की वृत्तियों का गम्भीर स्पर्श करती हैं। कोकिला की तान से प्रणय-स्मृतियाँ उन्मीलित हो जाती हैं, मेघ के मन्द्र-गम्भीर गर्जन से हम में एक मूक भय उत्पन्न होता है, दुःखित प्राणी का असहाय कष्ट-क्रन्दन सुन कर हमारे हृदय की करुणा जगती है। अतः इन ध्वनियों का हमारे रागात्मक हृदय से घनिष्ट सम्बन्ध है। यों तो वे अर्थ-हीन ही प्रतीत होती हैं पर संवेदनशील सहृदय उनका प्रभाव ग्रहण करते हैं और उनके भीतर छिपे हुए मर्म से परिचलित होते हैं। कविजन रूप-रंग की व्यंजना तक ही न रहे। इन ध्वनियों का जैसा प्रभाव हमारे हृदय पर पड़ता है वैसा ही वे अपने काव्य के द्वारा भी डालना चाहते हैं। शब्दों के द्वारा वे हृदय में वैसी ही गूँज उत्पन्न करते हैं जैसी कि मूल वस्तुओं की। इसके लिये पहला साधन है अत्यन्त ध्यानात्मक शब्दों का प्रयोग। कुशल कवि ही ऐसे शब्दों की पहचान रखते हैं, अधकचरे कवियों की वहाँ तक पहुँच नहीं। ऐसे शब्द जब काव्य में प्रयुक्त होते हैं तब इतने सजीव,

प्रभावशाली और भावोद्दीपक होते हैं कि कविता पढ़ते-पढ़ते सहृदय उनकी संवेदना से आनंदित होते हैं। उनके उच्चारण में ही ठीक वैसा नाद होता है जैसा कि अनुकृत (Imitated) ध्वनियों का। रूपाकार और वर्ण को ही ये शब्द-शिल्पी भाव-योगी, नेत्रों अथवा भावना में प्रस्तुत करने से तृप्त न हुए। जब इन्होंने अपनी प्रतिभा से नाद को भी शब्दों में बाँध लिया तब उनके भावाकुल हृदय को कुछ तुष्टि मिली।

काव्य में इस प्रकार की नाद-व्यंजना प्रभावोत्पादन की दृष्टि से भी बहुत उपयुक्त है। काव्य-रस में लीन करने वाले बाह्य साधनों में अन्त्यानुप्रास, लय और छंद-गति आदि तो हैं ही, किन्तु कभी कभी जब कवि अपने पूर्ण भावोत्कर्ष में हृदय की कोमलतम और सूक्ष्म भावना तथा गम्भीरतम अनुभूति का निकटतम बोध पाठक को कराना चाहता है तब उस अनुभूति को पूर्ण संप्रेषणीयता देने के लिए वह बाह्य कर्ण-गत ध्वनियों की भी रसमय संवेदना पाठक में उत्पन्न करता है। ऐसा करने से पाठक के हृदय का भी गम्भीर अनुरञ्जन होता है जो पूर्ण रस-प्रतीति में सहायक होती है। नाद के प्रभाव पर शेली लिखता है :—

Sounds as well as thoughts have relation both between each other and towards that which they represent, and a perception of the order of those relations has always been found connected with a perception of the order of the relation of thoughts. Hence the language of poets has ever affected a certain uniform and harmonious recurrence of sound, without which it were not poetry, and which is scarcely less indispensable to the communication of its influence than the words themselves, without reference to that peculiar order.....”

शब्दों के उपर्युक्त मत से नाद और विचार तथा अनुभूति की प्रपण्यता (Communicability) का सम्बन्ध विदित हो गया होगा। नाद-व्यंजना के कुछ उदाहरणों द्वारा यह बात समझ में भली भाँति आ सकती है। देखिए—

एते ते कुहरेषु गद्गदनदगोदावरीवारयो
मेवालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोर्णभृतो दक्षिणाः ।
अन्योन्यप्रतिघातसंकुलचलत्कल्लोलकोलाहलैः ... (भवभूति)

बासों का भुरमुट—

सन्ध्या का भुटपुट—

हैं चहक रही चिड़िया—टी-बी-टी टुट्-टुट् ! ... ('पंत' 'युगान्त')
भीगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल आशाति को रहा चीर । ... (गुंजन)
मृदु मन्द-मन्द मन्थर मन्थर लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर,
तिर रही खोल पालों के पर ! ... (गुंजन)

शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूलकार भयंकर ! ... (पल्लव)
घन घमण्ड नभ गरजत घोरा । प्रियाहीन डरपत मन मोरा । ... (तुलसी)
किंकिणि शब्द चलत ध्वनि स्नभुन ठुमक ठुमक गृह आवे । ... (सूर)
डम डम डमरू बजे कर सुन्दर खोल तीसरी आख तरेरे ।

... (दिनकर : रेणुका)

सुवर्ण किंकिणी बजी छनन छनन । ('बच्चन'—मिलनयामिनी)

जहाँ तहाँ भाइयों में भरती है भरनों की झड़ी यहाँ ।

(मैथिलः शरण गुप्त : पंचवटी)

दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के !

सघन गगन में भीम प्रकंपन, भंभा के चलते भटके ।

—(प्रसाद : कामायनी)

घंटनाद कंठों का दिन दिन टुन टुन टन टन परम मनोहर ।

—(नेपाली : उमंग)

मंदिर की घंटाध्वनि युग युग का संदेश सुनाती है ।

—('दिनकर'—रेणुका)

मंजुलतम दन्टन् घण्टा-ध्वनि गुञ्जित कर ऊषाकाश, अरुणि—

खो जाती दूर दिग्बल में ! ... (तरुण)

अंग्रेजी की कविताओं से भी इस नाद-व्यंजना के कई सुन्दर उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे—

Moor'd to the cool bank in the summer heats,
Mid wide grass meadows which the sunshine fills
And watch the warm green-muffled cumner hills. × ×
Dark bluebells drench'd with dews of summer heats.
—Arnold

".. ...Than thou shall hear the surly sullen bell".
—Shakespeare

"The murmurous haunt of flies on summer eves".
—Keats

"And drowsy tinklings lull the distant folds".—Gray

".....My tough lance thrusteth sure..... × ×"
"The shattering trumpet shrilleth high.....".
Tennyson

"But Linden saw another sight,
When the drum beat at dead of night,
Commanding fires of death to light
The darkness of her scenery".
—Campbell

ये तो हुए वस्तुओं की ध्वनियों की यथातथ्य व्यंजना के उदाहरण ।
अब एक दूसरे प्रकार का नाद-सौन्दर्य भी कविता में पाया जाता है ।
जब कोई शब्द अथवा पदावली किसी नाद
दूसरे प्रकार की का यथातथ्य प्रतिनिधित्व तो नहीं करती
नाद-व्यंजना किन्तु उसमें से कर्ण-मधुर लयमात्र उत्पन्न
होता है तब भी वह पाठक के मन को वशी-
भूत करती है और उसकी वृत्तियों को काव्य-रस में लीन करने में
सहायक होती है । इसके उदाहरण ये हैं :—

नारी का वह हृदय ! हृदय में सुधा-सिन्धु लहरें लेता,
बाढ़व ज्वलन उसी में जल कर कंचन सा जल रँग देता ।

मधु पिंगल उस तरल अग्नि में शीतलता संसृति रचती,
क्षमा और प्रतिशोध ! आह रे दोनों की माया नचती ।

(‘प्रसाद’—कामायनी)

उपर्युक्त पंक्तियों में ‘ल’ कार की तरलता नाद-सौन्दर्य उत्पन्न करती है ।

तुलसी मन रंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से । (तुलसी)

जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान, धन

आनन्द-निधान सुखदान दुखियानि दै । (धनानन्द)

द्वितीय चरण में मृदंग की ध्वनि का सुन्दर अनुकरण है ।

स्वर्ग भूमि हो भू पर भारत, जन मन धरणी सुन्दर.

अन्तर ऐश्वर्यों से मंडित मानव हो देवोत्तर ! —पंत (उत्तरा)

इन पंक्तियों में भी बँड बजने की सी मधुर ध्वनि उत्पन्न हुई है ।

अंग्रेज कवि स्विनबर्न में ध्वनि का माधुर्य बहुत अधिक रहता है । एक छंद लीजिए—

Nor wintry leaves nor vernal
Nor days nor things diurnal
Only the sleep eternal
In an eternal night.

(Swinburne : Garden of Proserpine)

इस प्रकार प्रकृति-प्रेमी कवि दृश्य के अन्तर्गत अनुभूत ध्वनि अथवा नाद की भी संवेदना उत्पन्न करके अपने प्रकृति-प्रेम का परिचय देते हैं ।

(च) गंध

दृश्य को सजीव व संप्राण बनाने के लिए कविजन गंध की संवेदना भी बड़ी मामिकता से कराते हैं । किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि कविता पढ़ते समय हमारी नासिका में भी वही गंध आने लगे । गंध के वर्णन से हमारी कल्पना तुष्ट होती है व हमें चित्र की पूर्णता

का अनुभव होता है। पंचेन्द्रिय के विषयों के वर्णन से ही सम्पूर्ण हृदय-सत्ता रस-मग्न होती है। इसीलिए गंध की संवेदना कराना भी आवश्यक है। अधिकांश कवि आँखों के विषयों का तो वर्णन करते हैं किन्तु इस ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। किन्तु जिनकी मानसिक उपस्थिति पूर्ण एकाग्र, सूक्ष्म व सजग होती है वे चट गंध के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। कालिदास, कीट्स, पंत व रामचन्द्र शुक्ल में यह गंध-भावना उच्च कोटि की है। अधिकांश कवि मीठी या तीव्र गंध की ओर तो खिंच जाते हैं पर हल्की कड़वी, खारी या ऐसी ही अन्य प्रकार की गंध की ओर ध्यान नहीं देते। समुद्र के तट पर, प्रथम वर्षा के समय हल-जुती धरती से, सावन-भादों की कड़ी धूप में जलते जंगली लता-पत्रों से, स्टेशनों या फैक्टरियों में विशेष विशेष प्रकार की गंध का अनुभव होता है। पुष्पहार, इत्र, वस्त्र, प्रभात-पवन, अनुलेपन आदि द्रव्यों से तो गंध आती ही है। कामशास्त्र में पद्मिनी स्त्रियों के अंगों से निकलने वाली गंध का भी वर्णन हुआ है। जायसी की चम्पकवर्णी पद्मिनी के अंगों से गंध आती है। कालिदास ने वर्षारम्भ में भूमि से निकलने वाली गंध का वर्णन किया है (मेघदूत, पूर्वमेघ)। कीट्स के गीत 'Ode to the Nightingale' में भी फूलों की गंध की रमणीय संवेदना उत्पन्न की गई है। 'प्रसाद' ने शिरीष पुष्पों की गंध (जब शिरीष के सुमन-गंध की मानभरी मधु-ऋतु रातें, कामायनी) तथा सौधी सुवास ('पुरस्कार' नामक कहानी) का वर्णन किया है। पंत जी की गंध-भावना भी प्रशंसनीय है।

अत्यन्त संवेदनाशील व्यक्तियों में गंध के प्रति इतनी सजगता होती है कि वे वर्षों बाद भी किसी पूर्वानुभूत गंध की कल्पना करके विह्वल हो जाते हैं और अपने को उसी वातावरण में पहुँचा हुआ पाते हैं। कभी कभी तो गंध का उन्हें प्रत्यक्ष ही अनुभव होने लगता है। हाँ 'पीनसवारे' तो कपूर को भी सोरा (कलमीसोरा) जान कर

छोड़ देते हैं और गाँव में गुलाब के इत्र का ग्राहक ही नहीं मिलता । प्रणयीजन अपने रति-विलास की गन्ध-विह्वल शरबती रातों की कल्पना करके विदेह हो जाते हैं ।

पर एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है । यद्यपि स्पर्श व गंध की संवेदनाओं से प्रकृति-प्रेम का पर्याप्त सम्बन्ध है किन्तु सौन्दर्य-सम्बन्धी चिन्ता में इनका बहुत महत्वपूर्ण स्थान नहीं समझा जाता । वे पदार्थ जो आँख और कान से सम्बन्ध रखते हैं और दृष्टि से अधिकाधिक दूर हैं उनके प्रति ही हमारी सौन्दर्य-भावना सब से अधिक प्रबल होती है । जो अत्यधिक निकट होते हैं उनके प्रति जिज्ञासा व कौतूहल भी न्यूनतम होता है । स्वाद, स्पर्श व गंध के प्रति भी यही बात मनो-वैज्ञानिकों ने ठीक ठहराई है ।

(छ) स्पर्श

त्वचा के माध्यम से प्राप्त मृदुल-तरल अनुभूतियाँ वाणी पाने के लिए संवेदनशील कवि के हृदय को गुदगुदा कर मचल उठती हैं । शरद-शशि की रेशमी रश्मियाँ, शीतकाल की दोपहरी की सुखद धूप, उल्लासकारी प्रभात में डोलता धीर समीर, ताप-त्रस्त देह पर स्निग्ध-श्याम कादम्बिनी को घेर कर लाने वाले सुशील पवन-भूकोरे, श्याम-सलोनी छाया व कनक किरण आदि के स्पर्श आनन्द में लीन कर देने वाले होते हैं । इन उन्मादकारी स्पर्शों का रति-विलास के क्षेत्र में भी बड़ा माहात्म्य है । 'प्रसाद' जी इन स्पर्शों का बहुत उत्साह के साथ वर्णन करते हैं । उदाहरणार्थ—

धीर समीर परस से पुलकित विकल हो चला श्रांत शरीर ;

(कामायनी : आशा सर्ग)

*विशेष देखिए—(1) 'The Psychology of Beauty' by Dr. B.L. Atreya in B.H.U. Journal, Golden Jubilee Number, 1942; (2) Chapter on 'Beauty' in Will Durants' 'Mansions of Philosophy' and (3) 'Treatment of Love in Sanskrit Literature' (page 40) by S. K. De.

है स्पर्श मलय मलय के झिलमिल सा संज्ञा को और सुलाता है ।

(काम सर्ग)

जलदागम मारुत से कम्पित पल्लव सदृश हथेली ;

श्रद्धा की, धीरे से मनु ने अपने कर में लेली ।

(कर्म सर्ग)

तृण गुल्मों से रोमांचित नग सुनते उस दुख की गाथा

(स्वप्न सर्ग)

सुख स्पर्श कमल केसर का कर आया रज से रंजित

(आनन्द सर्ग)

प्रकृति-पुरुष के मिलन के पुलक की व्यंजना भी दर्शनीय है—

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन ;

निज शक्ति तरंगयित था, आनन्द-अंबु-निधि शोभन (आनन्द सर्ग)

प्रमात की एक स्वर्ण किरण का स्पर्श कवि पंत के हृदय को मधुर
अनुभूति दान कर जाता है—

खो गई स्वर्ग की स्वर्ण-किरण छू जग-जीवन का अन्धकार,

मानस के सने से तम को दिशि-पल के स्वप्नों में सँवार ! (युगान्त)

महादेवी जी को स्वर्गीय किरण के स्पर्श की कितनी प्राणमयी,
लोकोत्तर व दिव्य अनुभूति हुई है —

चुभते ही तेरा अरुण बाण ।

बहते कन कन से फूट फूट मधु के निर्भर से सजल गान । —रश्मि

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये उक्तियाँ मानव-निरपेक्ष स्वतन्त्र
प्रकृति-प्रेम के ही भाव स्फोट हैं ।

(ज) भाव-व्यंजना

प्राकृतिक विभावों के रूप-चित्रण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व कौशलपूर्ण
विवृत्ति से ही कवि की पूरी मनस्तुष्टि नहीं हो सकती । वह इससे
आगे बढ़ कर अपने आनन्द-उल्लास की प्राणमयी भावना को भी
व्यक्त करता है । जब स्वर्गिक प्रेरणा के किसी क्षण में कवि समस्त
प्रकृति-प्रसार पर व्यापक दृष्टि डालता है तो वह इस मधुमयी भावना
से भङ्कृत-तरलित हो जाता है कि यह आनन्दोल्लासमयी प्रकृति अनादि
ब्रह्म की मधुमयी सृजनात्मक काम प्रेरणा की रसात्मक या आनन्दपूर्ण

अभिव्यक्ति है, तो आनन्द की हिल्लोल में वह डूब जाता है और उसे सारा व्यक्त प्रसार सौन्दर्य-चेतना से उच्छ्वसित जान पड़ता है। ऐसे ही क्षणों में कवि अपने जीवन व प्रकृति के आध्यात्मिक रहस्य को समझता है। पर वह मरणधर्मा है, इस भावना से वह खिन्न भी हो जाता है—

कलिके ! मैं चाहता तुझे उतना जितना यह अमर नहीं ।
अरी तटी की दूब ! मधुर तू उतनी जितना अधर नहीं ।
किशलय ! तू भी मधुर, चन्द्रवदनी निशि ! तू मंठी रानी,
दुख है इस आनन्द कुंज में मैं ही केवल अमर नहीं ।

‘दिनकर’ (रेणुका)

पर, आनन्द की किरण इस कुहरे को फाड़ डालती है और कवि अपना स्वाभाविक उल्लास व्यक्त कर ही उठता है—

फूलों की क्या बात, बाँस की हरियाली पर मरता हूँ !
अरी दूब, तेरे रहते जगती का आदर करता हूँ !

‘दिनकर’ (रेणुका)

‘साकेत’ की ‘सीता’ इसी आनन्द की मर्म-मधुर अनुभूति में चहक उठती है। ‘मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।’ (साकेत, ९वाँ सर्ग) हिन्दी-साहित्य का एक अद्भुत मुक्ति-गान है जो सीता के कलकंठ से प्राकृतिक परिस्थितियों के बीच फूटा है। इस आनन्द को लूटने के लिए वैदेही को बनवास के १४ वर्ष भी थोड़े लगते हैं ! प्रकृति-प्रदत्त उल्लास का ही यह प्रभाव है—

नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोड़े,
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े।
नाचो दिवि, चातक, चटक, भृंग भय छोड़े,
वैदेही के बनवास वर्ष हैं थोड़े,
तितली, तूने यह कहाँ चित्रपट पाया ?
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया ।

(साकेत)

काश्मीर की नयनाभिराम शोभा को देख कर पं० श्रीधर पाठक प्रकृति-प्रेम से तरलित हो कर 'धन्य ! धन्य !!' कर उठते हैं—

धन्य यहाँ की धूलि धन्य नीरद, नभ, तारे,
धन्य धवल हिमश्रृंग, तुंग, दुर्गम, दग-प्यारे,
धन्य नदी नद-स्त्रोत, विमल गंगोद-गोत जल
सीतल सुखद समीर, वितस्ता-तीर स्वच्छ-थल ।

(काश्मीर सुखमा)

गुप्त जी का उल्लास देखिए—

म्या ही स्वच्छ चांदनी है यह, है क्या ही निस्तब्ध निशा ;
है स्वच्छन्द-सुमन्द गन्ध वह, निरानन्द है कौन दिशा ?

पं० रामनरेश त्रिपाठी का सात्त्विक प्रकृति-प्रेम जन्य उल्लास परम मोहक है—

देखो प्रिये ! विशाल विश्व को आँख उठा कर देखो ।
अनुभव करो हृदय से यह अनुपम सुषमाकर देखो ॥
यह सामने अथाह प्रेम का सागर लहराता है ।
वृद्ध पड़ूँ, तैरूँ इसमें, ऐसा जो मैं आता है ॥ —‘पथिक’

पं० उदयशंकर भट्ट की ‘मानसी’ में अनेक स्थलों पर अत्यन्त सुन्दर भावोत्कर्ष दिखाई पड़ता है । ‘कुसुम’ नामक कविता में कुसुम की ओर से मानो कवि ही कहता है—

मैं सम्पूर्ण विश्व का सुख हूँ यौवन का उल्लास है सखी,
और समुच्चय प्रकृति चेतना का छोटा सा हास है सखी ।
महारूप सौन्दर्य विश्व के कण से विलसित रूप हमारा,
मैं हूँ लघु प्रेरणा जगत की जिससे विकसित अन्तर सारा ।

‘राका-रोमांचित विभावरी’ कवि को कितनी मार्मिक अनुभूति प्रदान कर जाती है, यह देखिए—

ज्योत्स्ना-भीना तन पृथ्वी का कवि का मन अनुराग रचा सा ।
नयनों में प्रिय छवि की आभा, चाँद गगन में मुसकाता सा ।
एक साथ साकार हो उठे सहसा जीवन के सब सपने ।

नीरवता की अमराई से अन्तः स्वर उभरा-उभरा सा ।
जाने ये दो क्षण ज्योतिर्मय फिर कब आवेंगे जीवन में ।
राका रोमांचित विभावरी आश्विन का राकेश गगन में ।
सहज शान्ति की एक लहर सी थिरक रही है वन-उपवन में । शेष)

ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ प्राकृतिक आलम्बन के स्वरूप चित्रण में कवि को वस्तुगत व्यौरों में बँधा-बँधा सा रहना पड़ता है वहाँ भाव-व्यंजना के स्थलों में वह सौ-सौ पंख लगा कर उड़ पड़ता है और मुक्तकंठ से (जिसे कीट्स 'full-throated ease' कहता है) चहचहा उठता है। यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि आल्लाद की व्यंजना करने में ही प्रकृति के प्रति हृदय के संचित अनुराग की खुल कर अभिव्यक्ति होती है। ग्राम-गीतों में इस आल्लाद का उत्कर्ष देखते ही बनता है।

(क) स्नेह-भावना

जिस वस्तु, भावना, आदर्श या कल्पना के प्रति हमारा हृदय निष्ठावान् रहता है वही हमारी सुख-शान्ति, आशा-उल्लास आदि का मूलधार होता है। तुलसी का चातक अपने मेघ से ही सब कुछ चाहता है और किसी से तृप्ति होगी भी नहीं। प्रकृति के सच्चं प्रेमी कवि शुद्ध प्रकृति-प्रेम से अभिभूत हो अपने दुःख-निराशा, क्षोभ व क्लान्ति के क्षणों में प्रकृति की ओर ही दृष्टि फेरते हैं। सच भी है। जीवन की कटु-तिक्त अनुभूतियों की शृंखला से क्षत विक्षत हृदय प्रकृति की सान्त्वना व आश्वासन के शीतलोपचार के अतिरिक्त अपनी जलन बुझा ही कहाँ सकता है। मानवों के व्यवहार को अच्छी तरह परख कर तुलसी की तरह जो व्यक्ति 'मैं तोहि अब जान्यो, संसार!' कह कर एक नीरव करुण निःश्वास डालता है तो उसकी दृष्टि प्रकृति की ओर ही पड़ती है। व्रणों के उपचार के लिए प्रकृति ही

शीतल लेप लगाती है, अश्व सन देती है, आँचल में लेकर थुपकती है, उसके धूल भरे दुखते अंग सहलाती है ।

आज मैं सब भाँति मुख सम्पन्न हूँ, वेदना के इस मनोरम विपिन में,
विजन-झाया में द्रुमों की, योग-सी, विचरती है आज मेरी वेदना ।

पंत (ग्रन्थि)

सन्ध्या के पश्चात् अंधकार में चन्द्रोदय को देख कर कोई ऐसी कल्पना करे तो कर सकता है --

उधर अस्त हो गया दिवाकर, इधर प्रकट हो रहा चन्द्रमा,
ज्यों जग-शिशु को पिला एक स्तन, खोल रही दूसरा प्रकृति माँ
धवल चाँदनी का कोमलतम, अपना आँचल डाल रुपहला--
सुला रही चिर पीड़ित जग को स्नेहमयी रजनी हिमांचला !

(ज) मनस्थिति

रूप, रंग, गंध व ध्वनियों के चित्रण के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा हम कवि के अनन्त प्रकृति-प्रेम की गहराई की याह पा सकते हैं । जिस व्यक्ति के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित हो जाता है उसकी एक-एक गति-विधि, मुद्रा, मनस्थिति (Mood) आदि को हम ध्यान से निहार कर सकते हैं । चिर-साहचर्य के परिणामस्वरूप कवि प्रकृति में कभी माँ की, कभी प्रिया की, और कभी सहचरी की भावना करता है और उसकी मुद्राओं में कुछ विशिष्ट भावों को अभिव्यक्त हुआ देखता है । वह मधुमयी चाँदनी में प्रकृति की स्नेह-धारा प्रवाहित होती हुई पाता है । वर्षागम के मेघों में स्निग्ध कहरा, जेठ की धूप में रोष, शिशिर की कुहरिल साँझों में उदासी, वसन्त-प्रभात में उल्लास, साँझ की ढीली-पीली धूप में अवसाद व निराशा, एकान्त निभृत सरिता-तटों की नीरवता में विश्राम, लहरों की मचलन में प्रगयाभिलाष आदि का अनुभव करता है । प्रकृति के मुख पर समय-समय पर इस प्रकार की परिवर्तित होती हुई भाव-भंगिमाओं में वस्तुतः हम अपने ही भावों का आरोप करते हैं, अपने

ही हृदय की छाया पड़ी देखते हैं, पर यह भी निश्चित है कि प्रकृति के प्रति व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्ध की भावना किये बिना इस प्रकार हम उसकी भाव-मुद्राओं को देखने में रुचि नहीं रख सकते। अतः दत्तचित्त हो कर प्रकृति को इस रूप में देखना और उसका चित्रण करना भी मूलतः प्रकृति के प्रति कवि के स्वतन्त्र प्रेम का परिचायक है। दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से।

(कामायनी, आशा सर्ग)

शांत सरोवर का उर

किस इच्छा से लहरा कर हो उठता चंचल, चंचल।

(पंत,—गुंजन)

उपरोक्त रूपों में हम प्रकृति के प्रति कवि के स्वतन्त्र प्रेम का परिचय पा सकते हैं।

(२) उद्दीपन

‘उद्दीपन’ का सीधा अर्थ है—उद्दीप्त करना, बढ़ाना, अभिवृद्धि करना, जागृत करना आदि। जब लौकिक आलम्बन—विशेषतः मानव—के प्रति जगे हुए रतिभाव को प्रकृति के द्वारा और अधिक बढ़ा कर आश्रय या भाव के अनुभवकर्ता को अनेक मार्मिक स्थितियों के बीच दिखाया जाता है वहाँ प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप में हुआ कहा जाता है। प्रकृति जगे हुए भाव को २ रूपों में उद्दीप्त करती है—(१) संयोग के क्षणों में मिलन की भावना को अभिवृद्ध कर आश्रय का आत्मोत्कर्ष करने में सहायक होती है, उसे रोमांच, पुलक व प्रेमाश्रु की उल्लासमयी मानसिक भूमिका पर उठा ले जाती है, और (२) त्रियोग के क्षणों में उसमें प्रिय-विरह-जन्य व्याकुलता उत्पन्न करके उसे दाह और रुदन का अनुभव कराती है। आलम्बन रूप के चित्रण में कवि या पात्र का प्रकृति से सीधा सम्बन्ध होता है किन्तु यहाँ परोक्ष। इसमें मानव ही प्रमुख होता है, प्रकृति गौण। प्रकृति का इस रूप में चित्रण

भृंगार रस के उद्दीप्त पक्ष में ही किये जाने की बँधी-बँधाई साहित्यिक परम्परा है। है भी यह बहुत स्वाभाविक। यह तथ्य मनोविज्ञान-सम्मत है कि हम अपनी अभीष्ट वस्तु या प्रिय की प्राप्ति से असीम आनन्द का अनुभव करते हैं और उसके विछोह या नाश से उसी अनुपात में दुःख का। यह सुख दुःख की अनुभूति अन्य मानव-सम्बन्धों की अपेक्षा प्रणय-सम्बन्धों में ही ('प्रियप्रवास' में वात्सल्य-रस-वर्णन में भी इसकी बड़ी विशद व वेगवती व्यंजना हुई है।) ऐसा वेग व तीव्रता धारण करती है क्योंकि आलम्बन से शारीरिक, मानसिक व आत्मिक तीनों रूपों में सम्बद्ध होने के कारण (अन्य सम्बन्धों में ये रूप एक साथ नहीं मिलते) आश्रय का सम्पूर्ण अस्तित्व प्रभावित होता है। यह अनुभूति हमारे हृदय तक ही सीमित न रह कर हमसे फूट-फैल कर समस्त चराचर जगत् या प्रकृति तक परिव्यप्त हो जाती है। उन्हीं क्षणों में हम सौन्दर्य का सर्वाधिक अनुभव करते हैं।*

हाँ तो मानव-प्रसंग में (स्वतन्त्र नहीं) प्रणयी हृदयों के विरह-मिलन के अनुभवों या स्थितियों में प्रकृति जितने भी रूपों में निरूपित की जाती है उन सब में उसका उद्दीप्त-गत रूप का चित्रण ही हमें प्राप्त होता है। मिलन के क्षणों में शांत एकान्त स्थान, चाँदनी, समीर, चन्द्रमा व मधुर गंध हमें सुख पहुँचाते हैं और विरह में ये ही पदार्थ

*'The Psychology of Beauty' (article in 'Golden Jubilee Number' of The Banaras Hindu University Journal, 1942) by Dr. B. L. Atreya.

*"So the esthetic emotion (part of that "Tender emotion" which accompanies the instinct of love) may overflow from the person desired to the objects attached to her, to her attitudes and forms, to her manners of action and speech, and to anything that is hers by possession or resemblance. All the world comes to partake of the fair one's splendour."—Will Durant, *The Mansions of Philosophy* (1929), page 290.

दाहक व दुःखदायी सिद्ध होते हैं। यद्यपि यह तथ्य प्रायः सभी मानव-जीवन-धारियों (पशु-पक्षियों के लिए भी विज्ञानवेत्ताओं ने सही ठहराया है) पर समान रूप से लागू होता है किन्तु उद्दीपन का क्षेत्र इस सामान्य मानव प्रवृत्ति से कुछ ऊपर भी है जो साहित्य में या जीवन की विशिष्ट अवस्थाओं में मिलता है। हाँ, सामान्य या औसत मानव-हृदय के लिए तो यह ठीक ही ठहरता है। यदि हम उद्दीपन का क्षेत्र यहीं तक मान लें तो मानव-चरित्र की कतिपय उदात्त वृत्तियों के प्रदर्शन का कहीं स्थान ही नहीं रह जाता और आश्रय-आलम्बन सामान्य पाशविक वृत्तियों से परिचालित कामीजनों से अधिक नहीं दिखाई पड़ सकते। एक विशेष बात यह है कि मिलन में चाहे किसी विशिष्ट उदात्त वृत्ति का पता न चले किन्तु विरह की दशा में उदात्त वृत्ति के चरित्रों में (चाहे जीवन-व्यापार के अन्तिम अंचलों में ही सही) कुछ ऐसी सात्त्विक कांति फूटती है कि उनकी सात्त्विकता व साधुता साहित्य व जीवन के गौरव की वस्तु सिद्ध होती है।

उद्दीपनगत रूप में प्रकृति जड़ रूप में भी चित्रित होती है और चेतन रूप में भी। जड़ रूप प्रायः वहाँ मिलता है जहाँ कवि, आश्रय या कोई पात्र प्रकृति के पदार्थों से या तो मिलन-मुख का संचय मात्र करता है (क्योंकि दृष्टि प्रिय पर भी टिकी रहती है, प्रकृति के साथ कोई तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता) या विरह में रुदन और हाहाकार करता है किन्तु प्रकृति की ओर से कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता। जो कवि प्रकृति में चेतना का आरोप करते हैं वे अपने दृष्टिकोण के आग्रह से प्रकृति व पात्र के बीच उत्तर-प्रप्युत्तर की भी व्यवस्था कर देते हैं। अन्यथा प्रकृति मूक या जड़ ही दिखाई जाती है। बा० गुलाबराय जी की भी मान्यता है कि उद्दीपन में प्रकृति जड़ भी रह सकती है और चेतन भी। (दे० उनका 'काव्य में प्रकृति चित्रण' नामक लेख)।

छायावाद में प्रकृति का चेतन रूप ही अधिक ग्रहण किया गया है।

अतः प्रकृति व मानव के पारस्परिक सम्बन्ध निम्नलिखित रूपों में संघटित होते हुए दिखाई पड़ते हैं—

(१) मानव दुखी तो प्रकृति भी दुखी ।

(२) मानव सुखी तो प्रकृति भी सुखी ।

(३) मानव दुखी किन्तु प्रकृति सुखी ।

(४) मानव सुखी किन्तु प्रकृति दुखी ।

मुख्यतः इन चार प्रकार के पारस्परिक व्यवहारों के निरूपण तक ही उद्दीपन-गत प्रकृति-चित्रण की व्याप्ति समझी जा सकती है । इनमें सामान्य चरित्र से लेकर उदात्ततम चरित्र के पात्र तक की समस्त मानसिक वृत्तियों के क्रिया-कलाप खप जाते हैं ।

यों तो उद्दीपन का शुद्ध क्षेत्र इतना ही है कि मिलन में प्रकृति अलम्बन से उत्पन्न आश्रय के हृदय के भावों को और उद्दीप्त करे, अर्थात्, विरह मिलन में उसके दुःख सुख की भावना को भड़कावे किन्तु विचार करने पर मानव के सुख-दुःख-प्रसंग की विविध व अनेक-रूप अभिव्यक्तियाँ इसी रूढ़ ढाँचे के भीतर आती हुई दिखाई पड़ती हैं । यों स्पष्टता के लिए इनमें से कई एक अभिव्यक्तियाँ प्रकृति-चित्रण की अन्य विधाओं के क्षेत्र से भी घनिष्ट रूप में सम्बन्धित ठहराई जा सकती हैं । विविध विधाओं के ये क्षेत्र गणित की तरह सर्वथा आत्म-स्वतन्त्र नहीं हैं; एक दूसरे से दृढ़-कोमल तन्तुओं से जुड़े हुए हैं । इस सम्बन्ध में पहले कुछ संकेत किया ही जा चुका है ।

वात्सल्य रस में भी प्रकृति उद्दीपन का काम करती है । 'हरि औध' जी का 'प्रियप्रवास' इस प्रसंग में दृष्टव्य है ।

अब हम प्रत्येक सम्बन्ध को अलग-अलग लेकर उसकी कुछ विस्तृत व्याख्या करेंगे ।

१. (क) सब से पहले प्रथम रूप को लें । इस वर्ग में कई रंगत की अभिव्यक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं । विरही दुःख में रोता और जलता

है। वह प्रकृति को आनन्द में नहीं देखना चाहता या नहीं देख सकता। अतः वह चाहता है प्रकृति भी उसके साथ रोवे, जले और समदुःख-भोगिनी हो। वह प्रकृति को उपालम्भ देता है, कोसता है, खरी-खोटी सुनाता है। 'मधुवन ! तुम कत रहत हरे !' सूर का यह पद प्रसिद्ध ही है।

(ख) कवि या भाव की व्यंजना करने वाला पात्र प्रकृति को कोसता नहीं, किन्तु उसे उस का कण-कण अपने हृदय की छाया के रूप में, जलता हुआ भासित होता है—

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, इस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल मेरे उस महामिलन के।
बुलबुले सिन्धु के फूटे नक्षत्र-मालिका टूटी,
नभ-मुक्त-कुन्तला धरणी, दिखलाई देती लूटी।

—'प्रसाद' (आँसू)

अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।

—'हरिऔध' (प्रियप्रवास)

हवा जो पधारी सनकती बहकती—
परिन्दों की टोली जो आई चहकती—
कलियों की लज्जा जो छूटी महकती,
तो गोया हमें सुध य' आई दहकती :

य' जीवन है ? यह तो मरण—सन्तरण है ;

सजन ने हमारा किया विस्मरण है।

—'नवीन' (अपलक)

(ग) मानव के दुःख में प्रकृति स्वयंमेव दुखी हो उठती है और वैसा ही दुःख मनाती है, सहानुभूति व्यक्त करती है, धैर्य देती है, ढाढस बँधाती है—

महरि का यह कष्ट विलोक के धुन रहा सिर गेह-प्रदीप था।

—प्रियप्रवास

अर्द्ध निशा में चमकते तारों को देखकर इस प्रकार की कल्पना की जा सकती है -

चमक रहे अम्बर में तारे ।
 वे सब हैं मानो यो कहते—
 'जग में कैसे प्राणी रहते !
 दितना भार व्यथा का सहते, वेवस से फिरने बेचारे !
 सोच मानवों की पीड़ा को,
 और नियति की कटु क्रीड़ा को,
 अर्द्ध निशा में सिहर-सिहर उठते हैं वे करुणा के मारे !
 चमक रहे अम्बर में तारे ।

जायसी के 'शगमती वियोग वर्णन' में इस वर्ग में दृष्टव्य भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है ।

(२) इसी प्रकार दूसरे वर्ग में भी अनेक प्रकार की भावनाएँ मिलती हैं ।

(क) मानव दुखी रहता है किन्तु प्रकृति को मानो उसके सुख-दुःख से कोई सरोकार नहीं । उसकी गति सुख पूर्वक चलती रहती है । टैनीसन का नाला निर्ममतापूर्वक गा गा हुआ चला जा रहा है—

"For men may come and men may go
 But I go on for ever." (Brook)

'प्रसाद' के कवि के दुःख की चातक व कोकिल को तनिक भा चिन्ता नहीं । वे अपने ही सुख में मस्त हैं—

चातक की चकित पुकारें, श्यामा-ध्वनि सरल रसीली,
 मेरी करुणाद कथा की टुकड़ी आस से गीली । —आँख

और, रामकुमार वर्मा की 'प्रकृति' भी तो कितनी निर्मम है—

मेरे दुख में प्रकृति न देती क्षण भर मेरा साथ ;
 उठा शून्य में रह जाता है मेरा भिद्युत-हाथ ; —रूप-राशि

इतना ही नहीं, इससे आगे बढ़ कर प्रकृति दीन मानव का उपहास करने से भी नहीं चूकती—

मुझे देख कोयल हँसती है, हँसती हूँ बरसाते ।

मेरी हँसी उड़ाया करतीं, रजत चाँदनी रातें ॥

तो कवि भी आज अपने भाग्य से सन्तुष्ट है—

चंदा ! आज हँसो तुम मुझ पर ! तारों मुझ पर टूटो ।

दोनों आँवे लुग रही हैं, आओ मोती लुटो ॥

—रघुवीरशरण 'मित्र'

(ख) मानव दुखी भले ही रहे किन्तु प्रकृति को सुखी देखना चाहता है । जिनकी आत्मा अनुभूति के आवे में तप कर उज्ज्वल व खरी हो जाती है और जो 'सर्वभूतहितेतरता' की भावना से आप्लावित हो जाते हैं, वे महाभाग अपने दुःख का ध्यान भुला कर सृष्टि के सौख्य की कामना करते हैं । हृदय की यह अवस्था अत्यन्त उदात्त होती है । 'गुप्त' जी की विरहिणी 'यशोधरा' इसी दिव्य भूमिका पर पहुँच कर चातकी को कहती है—

भटकी हाथ कहाँ घन की मुध, तू आशा पर अटकी,

मुझ से पहले तू सनाथ हो, यही विनय इस घट की ।

शीतल मन्द पवन को कहती है—

तेरा भार सहें न सहें ये मेरे अबल-स्कन्ध,

किन्तु विगाड़ न दें ये सासे तेरा बना प्रबन्ध ।

—'यशोधरा'

इसी प्रकार 'साकेत' की उर्मिला भी प्रकृति के प्रति कामना करती है—

रह चिर दिन तू हरी-भरी,

बढ़, सुख से बढ़ सृष्टि-सुन्दरी ।

विरहिणी 'उर्मिला' ने यह हिदायत जारी कर दी है—

सींचे ही बस मालिनै, कलश लें, कोई न ले कर्तरी,

शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़ के, फैलें लताएँ हरी ।

—'साकेत'

प्रकृति के प्रति विरही हृदय की यह दशा कितनी उदार व उन्नत है—

शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिङ्गन करो तुम गगन को
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन-वीणा बजा !
पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ किसी निर्जन-विपिन में बैठ कर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी विकी
भग्न-भावी को डुबा दे आख-सी !

—पंत (ग्रंथि)

(ग) प्रकृति को सुखी देखकर मानव भी आत्म-बल से अपने सुख का विधान करता है। वर्ड्सवर्थ के प्रसिद्ध 'Immortality ode' में यह भावना बहुत ही सुन्दरता से व्यक्त हुई है। कवि अपनी प्राचीन अन्तर्दृष्टि (Vision) के मन्द पड़ जाने पर खिन्न है। प्रकृति तो अभी भी वैसी ही आनन्दपूर्ण है किन्तु उसका मन अब वैसा नहीं। पर वह प्रकृति के आनन्दोल्लास में अपने अवसाद की धारा मिला कर रंग में भंग नहीं करना चाहता। इसलिए वह उसके उल्लास निविधन व यथा-पूर्व चलने देना चाहता है और स्वयं भी मानसिक बल से उसमें सम्मिलित होने का प्रयत्न करता है।

मिल्टन की 'Lycidas' नामक कविता के अन्त में भी आशावाद का सुन्दर संकेत है।

केशव का 'कलहंस, कलानिधि, खंजन, कंज...' वाला सवैया प्रसिद्ध ही है।

(३) तीसरे वर्ग में मानव व प्रकृति दोनों के सुख या प्रसन्नता की भावना व्यक्त करने वाली उक्तियाँ रखी जा सकती हैं। मानव सुख का

प्रभाव प्रकृति पर पड़ता है और प्रकृति के सुख का मानव पर ।
'कामायनी' का एक उदाहरण लीजिए—

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से,
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद विकास नये सिर से । —'प्रसाद'

प्रभात की यह हिमालय प्रदेशीय उत्फुल्ल शोभा मनु को भी आशा
से तरलित व पुलकित कर देती है—

जीवन ! जीवन ! की पुकार है खेल रहा है शीतल दाह ;
किसके चरणों में नत होता नव प्रभात का शुभ उल्हाह ।
यह संकेत कर रही सत्ता किसकी सरल विकास-मयी ;
जीवन की लालसा आज क्यों इतनी प्रखर विलास-मयी ।

—'प्रसाद' (कामायनी)

(ख) कहीं कहीं मानव के क्रिया-कलापों से प्रकृति प्रसन्न दिखाई
जाती है । चित्रकूट पर अयोध्या का राज-समाज सुखी है इसलिए प्रकृति
भी सुखी है—

द्विज चहक उठे, हो गया नया उजियाला,
हाटक-पट पहने दीख पड़ी गिरिमाला । —'साकेत'

मानव और प्रकृति की अन्योन्याश्रित आनन्द-भावना का पूर्ण
साम्य 'साकेत' के 'मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया ।' में प्राप्त
होता है । तुलसी ने 'गीतावली' में भी समस्त प्रकृति को आनन्द-निधान
राम-लक्ष्मण व सीता के संयोग से सुख-समृद्धि की उत्तुंग हिल्लोल में
लहराते हुए दिखाया है । मानव के द्वारा प्रकृति का आनन्दित होना
इन प्रसंगों में अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'साकेतकार'
व 'तुलसी' दोनों अपने आलम्बनों के अलौकिकत्व की भावना पूरी तरह
बँधाये रखते हैं ।

यहां इस बात की ओर भी कुछ संकेत कर देना आवश्यक है कि
उद्दीपनगत प्रकृति के चित्रण में संयोगादि-जन्य उल्लास और आलम्बन-
गत वर्णनों में कवि या पात्र आदि की भाव-व्यंजना में अभिव्यक्त

उल्लास में कुछ व्यावहारिक अन्तर है। एक में उल्लास का मूल स्रोत मानव ही है, प्रकृति उस उल्लास में सहायिका मात्र है, जब कि दूसरे में उल्लास का मूल स्रोत स्वयं प्रकृति है। कवि या पात्र अपनी आत्मा या विश्वात्मा के आभास की अनुभूति से ही प्रकृति में महान् आनन्द का अनुभव करता है। 'साकेत' की सीता की आत्मा यदि प्रकृति के साथ एकाकार न हो तो प्रिय-संग-जन्य सन्तोष मात्र से ही कदाचित् उस कोटि के आनन्द की भावना जागृत ही न हो। आलम्बनगत चित्रणों का आनन्द प्रत्यक्ष ही कहा जायगा, जब कि उद्दीपनगत वर्णनों का परोक्ष। एक में प्रकृति से सीधा सम्बन्ध है जो किसी पर आश्रित नहीं, दूसरे में मानव पर आश्रित है। मानव-सम्बन्ध में किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न होते ही, उस आनन्द का स्वरूप परिवर्तित हो जायगा। अपने चरम विकास की दशा में ये दोनों आनन्द, एक ही आत्मा के दो स्रोत होने के नाते, मूलतः एक ही हैं पर वैज्ञानिक स्पष्टता के लिए यदि उनका पृथक्करण किया ही जाय तो इस प्रकार किया जा सकता है।

(४) चौथे वर्ग में वे उक्तियाँ रखी जा सकती हैं जिनमें मानव को तो सुखी दर्शाया जाय और प्रकृति को दुखी। मानव के शोक से सहानुभूति में प्रकृति का सन्तप्त होना तो पहले वर्ग में दिखाया जा चुका है। किन्तु इसके विपरीत ऐसी भावना भी हो सकती है जिसमें मानव के सुख-पौभाग्य पर प्रकृति ईर्ष्याविश दुख मनाती हो ! पर इस प्रकार की उक्तियाँ देखने में प्रायः नहीं आतीं। प्रकृति मानव से किस बात पर ईर्ष्या करे ! मानव तो प्रकृति का बालक ही है। आदर्शवादी दार्शनिकों ने प्रकृति को सर्वाधिक ईश्वरीय आलोक से सम्पन्न ठहराया है। प्लेटो ने भी प्रकृति में ईश्वरता का दर्शन किया है।* यूनानी दार्शनिक प्लोटिनस ने बुद्धि का विषयात्मक ज्ञान (Objective

*Symposium' (1951, The Penguin Classics) p. 93-94.

Reason) को आदि तत्त्व ठहराया। वह जीवात्मा में सब से अधिक प्रकाशित होती है और उससे कम प्रकृति में।* विक्टर-कूज्या ने भी यही आदर्शवादी दृष्टिकोण ग्रहण किया है।** इस कारण मानव के प्रति प्रकृति के ऐसे व्यवहार को मानो बहुत ही कम प्रश्रय दिया गया है। हां, अलबत्त ऐसी उक्तियां तो मिलती ही हैं जिनमें किसी के प्रिय व्यक्ति के हरण पर भाग्य को यह कह कर कोसा गया हो कि वह प्रेमियों के इस सुख को न देख सका! पर वे प्रकृति से सम्बन्ध न रख कर नियति या अन्ध शक्तियों से ही सम्बन्ध रखती हैं।

विस्तार-भय से हम इस प्रकरण को अब यहीं समाप्त करते हैं। इस विवेचन से उद्दीपन के क्षेत्र-विस्तार का पाठकों को कुछ अनुमान हो गया होगा। वस्तुतः इस दिशा में सुस्पष्ट शास्त्रीय विवेचना की बहुत आवश्यकता है। लक्षण ग्रन्थों में तो उद्दीपन प्रकरण में प्रायः पात्र प्रकृति द्वारा विरह-मिलन के अनुसार दुःख या सुख की अनुभूति करता हुआ ही बता कर छोड़ दिया जाता है, पर अभी नवीन ढंग से उद्दीपन के क्षेत्र की बारीक छान-बीन की आवश्यकता बरी हुई है। यह विवेचन तो एक दिशा-निर्देश का प्रयत्न मात्र है।

(३) रहस्य-भावना

रहस्य-भावना पर पिछले पृष्ठों में यत्र-तत्र पर्याप्त लिखा जा चुका चुका है। प्रकृति को सरसरी दृष्टि से देखने वालों को इस गम्भीर भावना की अनुभूति नहीं होती, इसके लिये प्रकृति का सामीप्य व अनुशीलन अनिवार्य है। यह कहा जा चुका है कि स्वाभाविक रहस्य-भावना का काव्य-क्षेत्र में एक निश्चित स्थान है। जिज्ञासा व कुतूहल वृत्ति मानव-मन की एक गूढ़ वृत्ति है जो साधारणतः सभी भावकों में न्यूनाधिक रूप में पाई जाती है किन्तु विशिष्ट कल्पनाजीवियों का तो

*सौन्दर्य-विज्ञान (ले०—हरिवंश सिंह शास्त्री), पृष्ठ ३६-३७

**Basil Worsfold, 'Principles of Criticism.' (Chap. VII)

उपजीव्य ही हो जाती है। किन्तु बात बात में 'कहाँ ?' 'कौन ?' की प्रवृत्ति बाल-वृत्ति सी भी जान पड़ने लगती है। अतः किसी विशेष गम्भीर प्रसंग में ही बिजली की कौंध की तरह इसकी अभिव्यक्ति हृदय को चमत्कृत करती है। स्वाभाविक रहस्य-भावना उसी कवि में मिलेगी जिसने प्रकृति को उसके सभी रूपों, उसकी सभी विविधताओं व सभी मनोदशाओं (Moods) में दत्तचित्त होकर देखा है और उसकी सौन्दर्य-सुरा का आकंठ पान किया है। जिसने प्रकृति के शान्त, सौम्य, मधुर, तथा उदात्त (Sublime) व भीषण सभी रूपों का रोमांच व पुलक के साथ अनुभव न किया उसकी जिज्ञासा या रहस्य-भावना में स्वाभाविकता व संप्राणता नहीं आ पाती। प्रकृति की मधुर गोद में पलने वाले तत्त्वदर्शी आर्य-ऋषियों की यह जिज्ञासा कितनी सच्ची व स्वाभाविक है—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे । कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन वा शृणोति
येन वा गन्धाना जिघ्नति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ।

—ऐतरेयोपनिषद् ३।१।१

अर्थात् जिसकी हम उपासना करते हैं वह आत्मा कौन है ?
जिसके सहयोग से मनुष्य देखता है, सुनता है, सूँघता है, बोलता है,
स्वाद-अस्वाद का भेद करता है वह आत्मा कौन है ?

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा ।

अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१

अर्थात् जगत का मूल कारण वह ब्रह्म कौन है, हम किससे उत्पन्न हुए हैं, हमारे जीवन का परम आधार कौन है ? जिसकी बनाई हुई व्यवस्था से हम सब सुख-दुःख भोग रहे हैं, वह व्यवस्थापक कौन है ?

इस जिज्ञासा-भाव से युक्त मर्मभेदिनी दृष्टि लिये जो भावुक साधारण से साधारण फूल को भी देखता है उसे भावोद्वेल के कारण

अश्रुपात होने लगता है—

“To me the meanest flower that blows can give
Thoughts that do often lie too deep for tears”.

—Wordsworth (Immortality Ode)

कविवर पंत की हिमाद्रि (स्वर्णकिरण), सृष्टि (युगान्त), मौन-निमंत्रण (पल्लव), ‘एक तारा’ तथा ‘आज शिशु के कवि को अनजान’ (गुंजन) आदि कविताओं में मूक आश्चर्य, जिज्ञासा, व कुतूहल की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

‘कामयनी’ में मनु की यह जिज्ञासा उपरोक्त उपनिषद्-वाक्यों की भावना के सर्वथा मेल में है—

महानील इस परम व्योम में, अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्य तत्कण किसका करते से संधान !
द्विप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए;
तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिंचे हुए ?
सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?
हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता । —‘प्रसाद’

पं० रामनरेश त्रिपाठी के सुप्रसिद्ध खण्ड काव्य ‘स्वप्न’ में भी स्वाभाविक रहस्य-भावना की रमणीय अभिव्यक्ति हुई है—

किसकी सुख-निद्रा का मधुमय स्वप्न-खंड है विशद विश्व यह ?
जग कितना सुंदर लगता है ललित खिलौनों का सा संग्रह !
बार बार अंकित करता है ऋतुओं में सविता किसकी छवि ?
मोहित होता है मन ही मन देख देख किसकी क्रीड़ा कवि ?
है वह कौन रूप का आकर जिसके मुख की कांति मनोहर.
देखा करती है सागर की व्यग्र तरंगें उचक उचक कर ?
घन में किस प्रियतम से चपला करती है विनोद हँस हँस कर,
किसके लिए उषा उठती है प्रतिदिन कर शृंगार मनोहर ?

मञ्जु मोतियों से प्रभात में नृण का मरकत सा सुंदर कर,
भर कर कौन खड़ा करता है बिसके स्वागत को प्रतिवासर ?

रहस्य की भावना यों तो मानव-सौन्दर्य और प्राकृतिक-सौन्दर्य दोनों से ही जागृत हो सकती है किन्तु कवियों द्वारा प्रायः यह प्रकृति सौन्दर्य से ही उद्भूत दिखाई जाती है। कारण इसका यह है कि मानव सौन्दर्य व प्राकृतिक सौन्दर्य दोनों समान रूप से आकर्षक होते हुए भी प्राकृतिक सौन्दर्य विशेष रूप से उस अमर सत्ता की विभूति के प्रकाशन का निकटतम माध्यम समझा गया है। फिर मानव सौन्दर्य का निर्णय देश-काल की कसौटियों पर भी आँका जाता है किन्तु प्रकृति-सौन्दर्य का प्रभाव प्राणी-मात्र के लिए एक सा है अतः वह देश-काल की सीमाओं से अतीत है और ईश्वरीय सत्ता उसमें सर्वाधिक प्रतिभासित होती है (विशेष देखिए पुस्तक का 'उपसंहार')। फिर भी मानव-सौन्दर्य कवि को सुन्दर रहस्य भावना प्रदान करता है—

देख अतुल सौन्दर्य तुम्हारा मुग्ध हुआ मन मेरा।
जिसने तुम्हें रचा वह कैसा होगा चारु चितेरा !
उसे देखने की दृढ़ इच्छा प्रवल हो उठा मन में।
फिरा खोज में रूपराशि की मैं निशि दिन वन वन में।

—रामनरेश त्रिपाठी (पथिक)

और प्रकृति के सौन्दर्य को देख कर भी इस प्रकार की सहज जिज्ञासा की भावना किसी के मन में उपज सकती है—

गहरा नीला आकाश ! चमकती धूप ! मखमली हरियाली !
हैं पवन-भक्तोरे मधुर मधुर, सरिता—लहराते जल वाली !
विस्तृत मैदानों के आगे, लेटीं नीली गिरिमालाएँ,
हैं मौन खड़े भावुक तरुवर, स्नेहाकुल फैला शाखाएँ !
मैं देख रहा इस शोभा को, विस्मय-विमुग्ध सा, हुआ मौन !
रोमाञ्च हो रहा रे मुझको—इस सुंदरता का स्रोत कौन ?

तट पर फेन-शय्या बिछाते, तरंगाकुल गाढ़-नील समुद्र के क्षितिज

व्यापी प्रसार को देख कर कोई भी भावुक इस प्रकार विराट् की भावना से आन्दोलित हो उठ सकता है:—

उद्वेलित फेनोच्छ्वसित प्रबल चंचल हहराती शत सहस्र—
उत्ताल तरंगों की पृथु-पृथु इन जिह्वाओं से निज अजस्र—
किस शक्तिनाथ की सत्ता का गाने हो शाश्वत विजय-गान-
किस चिर रहस्य की प्रतिमा का करने उद्घाटन, शक्तिवान् !
ए तरल-तरंगित जलधि कहो, तुम किसकी महिमा के प्रतीक?
तुम किसकी सत्ता के प्रतिनिधि ? किस अजर अमर की अमिट लीक ?

जिस प्रकार सुन्दर और कोमल रूपों को देखकर प्रभु के मधुर रूप की भावना में मन जमता है इसी प्रकार विशाल समुद्रों व पहाड़ों को देखकर भी विराट् की अनुभूति होती है और जिज्ञासा होती है कि 'वह' कौन है ? ब्रह्मसूक्त में यह जिज्ञासा मिलती है कि किसने यह पृथ्वी, यह ब्रूलोक और यह अंतरिक्ष आदि रचे हैं ? ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में ब्रह्मा की विराटता का गान करके उसकी परिचर्या की कामना की गई है —

ओं यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य ममुद्रंरसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
ओं येनद्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा ये न स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

‘जिस परमात्मा की महिमा का हिमालयादि पर्वत गान कर रहे हैं, नदियों सहित समुद्र वर्णन कर रहे हैं, जिस परमात्मा ने अन्तरिक्ष और पृथ्वी को स्थिर कर रखा है जिसने स्वर्ग को अपने स्थान पर और सूर्य को आकाश में स्थित किया है ऐसे सुख स्वरूप परमात्मा की हवि-प्रदान द्वारा हम परिचर्या करें ।’

अभिप्राय यह कि समुद्र, पृथ्वी, आकाश, सूर्य चन्द्रादि परमपिता परमात्मा के अस्तित्व के साक्षी हैं जिनको देखकर इनके रचयिता के स्वरूप की जिज्ञासा भावुक मन में होती ही है ।

(४) मानवीकरण

प्रकृति का मानवीकरण आधुनिक हिन्दी-कविता की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। मानवीकरण के लिये प्रकृति की चेतन सत्ता के रूप में कल्पना करनी पड़ती है। मानवीकरण का अर्थ है प्रकृति या उसके पदार्थों को चेतन मानव की तरह व्यवहार करते—हंसते, बोलते, चलते, भाषण करते, गाते, रुदन आदि करते दिखाया जाय। इस में यह बात निहित है कि कवि का प्रकृति के साथ, साहचर्य अथवा मानसिक तादात्म्य के कारण, निकटतम सम्बन्ध—मां, प्रिया, सखी आदि रूपों में—स्थापित हो चुका है। कवि कभी कभी तो केवल उसकी चेष्टाओं का वर्णन मात्र करके ही सन्तुष्ट हो जाना है, किन्तु कभी कभी पारस्परिक संभाषण आदि अन्य व्यवहारों की भी कल्पना करता है। इतना ही नहीं, छायावाद का कवि प्रकृति के अनेक रूपों पर प्रेयसी या कामिनी की एक एक चेष्टा का आरोप करके काल्पनिक प्रेम-तुष्टि का भी लाभ लेता है। प्रकृति के साथ कवि का काल्पनिक प्रणय-सम्बन्ध छायावाद का क्षेत्र है किन्तु जहां प्रकृति में किसी अलौकिक आलम्बन की छाया की विवृति मिलती है वहाँ रहस्यवाद की भावना का प्राधान्य रहता है। अन्तर लौकिक व अलौकिक आलम्बन का है। छायावादी कवि अपने प्रिय की छाया प्रकृति के नाना रूपों में देखता है और उन रूपों का मानवीकरण करता है। उदाहरण लीजिए—

मुसकाता संकेत भरा नभ, अलि क्या प्रिय आने वाले हैं। —महादेवी वर्मा

यहां आकाश मानव के समान मुसकराते हुए कल्पित किया गया है। वस्तुतः आकाश मुसकराता नहीं, केवल तारे चमकते हैं। किन्तु लाक्षणिकता के बल पर कवि ने इस विधान से चित्र में सजीवता उत्पन्न कर दी है। एक और उदाहरण लीजिए—

उपा अरुण प्याला भर लाती सुरभित छाया के नीचे,

मेरा यौवन पीता सुख से अलसाई आखें मीचे।

—‘प्रसाद’ (कामायनी)

यदि केवल इतना ही कह दिया जाता कि उषा की ललाई फैल गई है जो मुझे (मनु को) आनन्दित कर रही है तो उसमें तथ्य-कथन ही अधिक होता, चित्र-विधान नहीं। उषा में मानवीकरण करके कवि ने उसे मधु या मदिरा ला कर परसने वाली मधुवाला के रूप में अंकित किया है जिस से चित्र गूँज उठा है—सजीवता का छौंक लग गया है।

‘निराला’ का सन्ध्या मा मानवीकरण बहुत प्रसिद्ध है—

दिवसावसान का समय

मेघमय आसमान से उतर रही है,

वह संध्या सुंदरी परी सी

धीरे धीरे धीरे।

—‘परिमल’

‘प्रसाद’ का करुणा का यह चित्र लीजिए—

यह हृदय समाधि बना है

रोती करुणा कोने में !

—‘प्रसाद’ (आँसू)

इसमें करुणा नामक गंभीर चित्तवृत्ति का कितना सजीव मूर्त्त-विधान या मानवीकरण हुआ है।

‘प्रसाद’ ने कहीं कहीं मानवीकरण के बल पर मानव-जगत् से सर्वथा स्वतन्त्र प्रकृति के जड़ पदार्थों में ही एक भरे-पूरे व्यापार की बड़ी रमणीय कल्पना की है, मानो प्रकृति जगत् में मानव-जगत् की ही तरह अपने ही स्वतन्त्र क्रिया-कलाप चल रहे हों। उदाहरण लीजिए—

जब कामना सिंधु तट आई, ले संध्या का तारा दीप,

फाड़ सुनहली साड़ी उसकी तू हँसती क्यों हँसती अरी प्रतीप ?

इस अनंत काले शासन का वह जब उच्छ्रंखल इतिहास,

आँसू औ तम घोल लिख रही तू सहसा करती मृदु हास।

‘प्रसाद’ (कामायनी, आशा सर्ग)

मनु हिमालय प्रदेश में चाँदनी रात में काम-पीड़ित से एकाकी बैठे हैं। मन की काम-भावना व रजनी का कवि ने मानवीकरण

किया है जिस से दोनों की सूक्ष्मता को स्थूल बाह्याकार मिल जाय और पाठक उन दोनों का मूर्त बिम्ब अपने कल्पना नेत्रों के सामने देख सके। कवि का कहने का आशय केवल इतना ही है कि इस शांत व मधुर रात्रि में मनु अतृप्त हैं। किन्तु इस तथ्य कथन को छोड़ कर वे मानवीकरण के बल पर रमणीय चित्र-विधान में प्रवृत्त हुए हैं। कवि ने कामना, विधु, सन्ध्या, तारा, सन्ध्या का आलोक, आँसू और तम इन सब विभिन्न पदार्थों को संवलित कर कल्पना से एक सूत्र में पिरो दिया है जिससे कि वे एक पूरे व्यापार का कार्य सार दें। कोई धर्मप्राण स्त्री यदि दीप जला कर नदी की लहरों पर तैराने ले जावे और ऐसे समय यदि कोई दूसरी स्त्री उसकी सुनहली (सुहागमयी) साड़ी (सन्ध्या का प्रकाश) फाड़ दे तो यह कार्य अन्यायपूर्ण वाले शासन का ही उच्छृंखल व्यापार कहा जायगा। रात्रि ने मनु के हृदय की कामना को (जिसे कवि ने तारा-दीप लिये जल पर दीपक तैराने जाने वाली सुहागिनी का रूपक दिया है) उसी प्रकार क्षत-विक्षत कर दिया है क्योंकि वे एकाकी व अतृप्त हैं। मनु की वह कामना मातों रात्रि के इस निष्ठुर या उच्छृंखल अन्धेर का इतिहास मनु के आँसू व अँधेरे (मन की निराशा) से तैयार की हुई स्याही (निर्दत्ता की अतिशयता का सूचक) से लिख रही है किन्तु प्रतीप (उलटी मति वाली—धार्मिक कृत्य करने वाले पर अत्याचार करने वाली) रात्रि, चांदनी के बहाने, कामना के इस इतिहास-लेखन पर कुटिल हँसी हँस कर मानो कह रही है कि अरी ! जा, तू मेरा कर ही क्या लेगी ? रात्रि में मनु की अतृप्त कामना को पूरे वेग व स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने इतनी सफलता के साथ कामना व रजनी का मानवीकरण किया है। आँखों के सामने पूरा नाट्य प्रस्तुत कर दिया गया है। मानवीकरण के कौशल के बिना यह निष्ठुरता या उच्छृंखलता की भावना इतनी सजीवता के साथ संभवतः हो भी न पाती।

यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि कवि को काम भाव जीवन की उदात्त वृत्ति के रूप में अंकित करना इष्ट है [‘कामिनी’ का तीसरा (श्रद्धा) सर्ग देखिए] इसीलिए कामना को धार्मिक स्त्री के रूप में चित्रित किया है।

इसी प्रकार ‘पन्त’ जी ने भी ‘आंसू से’ नामक कविता में बिजली और पवन का, उनके गुणों की भावना जगाने वाला मानवीकरण का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है—

इन्द्र धनु की सुन कर टंकार
उचक चपला के चंचल बाल,
दौड़ने थे गिरि के उस पार
देख उड़ते-विशिखों की धार;
मरुत जब उनको द्रुत चुमकार,
रोक देता था मेघासार।

—‘पल्लव’

(५) पृष्ठभूमि व वातावरण

प्रबन्ध काव्यों में, किसी गंभीर स्थिति या प्रसंग के उपक्रम-स्वरूप, प्रभावोत्कर्ष के लिए प्रकृति के द्वारा पृष्ठभूमि व वातावरण का निर्माण भी सदा होता रहा है। केवल वातावरण-प्रधान कविताएं भी देखने में आती हैं जिनमें मुख्य वर्ण्य वस्तु तो निमित्त मात्रा ही होती है, प्रकृति का चित्रण ही प्रमुख हो उठता है। वास्तव में पृष्ठभूमि व वातावरण निर्माण भी आलम्बनगत प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत ही समझा जाना चाहिये क्योंकि दोनों में कवि उसी मौलिक प्रतिभा को दर्शाता है जो विशद प्रकृति-चित्रण में अभीष्ट होती है। अंतर परिमाण का है। पृष्ठभूमि व वातावरण-चित्रण अपेक्षाकृत संक्षिप्त होते हैं। जहां ये विस्तृत हुए वहाँ यह भेद ही लुप्त होने लगता है। एक अंतर यह भी है कि संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण अपने आप में एक लक्ष्य होता है किन्तु पृष्ठभूमि व वातावरण-चित्रण मानव-प्रसंगों की व्याख्या, मूल्यांकन व मानव जगत् व प्रकृति जगत् के बीच फैली वैषम्य या साम्य की भावना

को हृदयंगम कराने के लिए ही होते हैं अतः इनका महत्व गौण है। फिर भी इतना निर्विवाद है कि इनके अभाव में कवि का प्रस्तुत, वर्ण्य अथवा दृश्य शून्य में खड़ा हुआ सा जान पड़ता है। इनके संयोग से दृश्य में एक भरापूरापन का सा अनुभव होता है।

पृष्ठभूमि व वातावरण चित्रणों में सब से बड़ा साम्य यही जान पड़ता है कि दोनों मुख्यतः प्रबन्ध काव्यों में मानव-प्रसंगों में व्यवहृत होते हैं और न्यूनाधिक रूप से सौन्दर्य-वर्धन व काव्य की प्रभावशालिता में सहायक होते हैं। किन्तु वैषम्य कई बातों में है। मुख्य विषय में पृष्ठभूमि का सम्बन्ध कुछ दूर का, गौण, परोक्ष व निष्क्रिय दिखाई पड़ता है जब कि वातावरण का सम्बन्ध निकटतम, मुख्य व प्रत्यक्ष होता है। पृष्ठभूमि का सम्बन्ध मुख्य विषय से कुछ कुछ वैसा ही जान पड़ता है जैसा फ्रेम का फोटो से या दूर दूर मेखलाकार फैली पहाड़ियों का किसी नगर से। फोटो व नगर का अस्तित्व उनके अभाव में भी सुरक्षित है। हाँ, यह दूसरी बात है कि दूर या गौण रह कर भी वे सौन्दर्य-साधन में सहायक हो रहे हैं। वे चित्र या नगर के अभिन्न अंग नहीं। किन्तु वातावरण का प्रभाव अनिवार्यतः पड़ कर ही रहता है। वह विषय का एक सक्रिय तत्व है। हमारा श्वासोच्छ्वास अपने वातावरण पर भी निर्भर है। मनोवृत्तियों का निर्माण व निर्धारण भी बहुत कुछ उस पर आश्रित रहता है। इस दृष्टि से वातावरण रूप में अंकित चित्रण का कव्य-वस्तु से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ व दृढ़ सम्बन्ध है। वातावरण का प्रभाव मानव पर पड़ता है, मानव का वातावरण पर नहीं। पृष्ठभूमि का तो संकेत मात्र कर देना ही अभीष्ट होता है जब कि वातावरण का कुछ विस्तृत वर्णन आवश्यक होता है। 'कामायनी' के प्रथम सर्ग में प्रलय की भीषणता व द्वितीय सर्ग में हिमालय प्रदेश के उत्फुल्लकारी प्रभात की शोभा का प्रभाव सीधे मनु पर पड़ता है। इतना ही नहीं, मनु के जीवन की गति-विधि

वातावरण से ही निर्धारित होती है। अतः वे वातावरण निर्माण के चित्रण हैं। प्रथम सर्ग में प्रलय का वर्णन ही प्रमुख हो गया है अतः वह संश्लिष्ट चित्रण के अन्तर्गत ही समझा जाना चाहिए।

‘आशा सर्ग’ के आरम्भ का वातावरण-चित्रण देखिए—

उषा सुनहले तार वरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अंतर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख वस्तु प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बँती, हुआ सृष्टि में शब्द विवास नये सिर में।
धरे धरे हिम आच्छादन हटने लगा धरातल से;
जमी वनस्पतिथा अलसाई मुख धोती शीतल जल में।

इस वातावरण का अनुकूल प्रभाव मनु के मन पर यह पड़ता है—

यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल मदय हृदय में अधिका अधार;
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही आशा वन कर प्राण समीर।
यह कितनी स्पृहणीय वन गई मधुर जागरण में द्रवमान;
स्मिति की लहरों सी उठती है नाच रही ज्यों मधुमय तान।

‘पंत’ के ‘नौका विहार’ व ‘एक तारा’ नामक मुक्तक कविताओं में भी यह वातावरण चित्रण बहुत रमणीय बन पड़ा है।

पृष्ठभूमि-चित्रण में कवि मानव जीवन व प्रकृति के वैपम्य अथवा विरोध या साम्य की एक झलक देकर मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। साधारणतः पृष्ठभूमि चित्रण के द्वारा कवि कभी तो यही व्यंजित करता है कि प्रकृति में कितनी शांति और व्यवस्था है जब कि मानव जीवन कितना शोकाकुल व ऊहापोहपूर्ण, या वह प्रकृति व मानव का सौहार्द्र अंकित करता है। इस विषय में पीछे आलम्बनगत प्रकृति-चित्रण में पर्याप्त विचार किया जा चुका है। एक दो उदाहरण ही यहां पर्याप्त होंगे—

तारे डूबे तम टल गया छा गई व्योम-लाली।
पक्षी बोले तमचुर जगे ज्योति फैली दिशा में।

शाम्बा डोली तरु निचय की कुंज फूले सरो में ।
 धीरे धीरे दिनकर कड़े तामसी रात बीती ॥
 फूली फैली लसित लतिका वायु में मंद डोली ।
 प्यारी प्यारी ललित-लहरें भानुजा में विराजी ।
 सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर लूटी ।
 कूलों कुंजों कुसुमित वनों में जगा ज्योति फैली ॥

—प्रियप्रवान, ५-१, २

वह वर्णन आलम्बन रूप में नहीं कहा जा सकता क्योंकि श्रीकृष्ण प्रवस के दुःखद क्षण सावकाश हो कर कवि का प्रकृति के चित्रण में लीन होना अस्वाभाविक व असंगत है । वातावरण रूप में भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस उत्फुल्लकारी प्रभात काल का ब्रज-जनता पर कोई अनुकूल व मधुर प्रभाव अंकित करना न तो कवि को इष्ट ही है और न प्रसंग-प्राप्त ही । प्रकृति आनन्द में है किन्तु मानव-जीवन का क्षेत्र कितना शोकाकुल है, यही विरोध (Contrast) के द्वारा दिखाया गया है । अतः हमारी समझ में ऐसे स्थल पृष्ठभूमि-चित्रण के ही कहे जायेंगे ।

एक और उदाहरण 'साकेत' से लीजिए । चित्रकूट में रात भर अयोध्या के राज-परिवार व ऋषि-मुनियों का समाज जुटा है । कैंकेयी का परितोष हो गया है और क्षुब्ध वातावरण में पुनः सौमनस्य स्थापित हो गया है । इस वातावरण से प्रकृति भी स्वस्थ व प्रसन्न दिखाई गई है —

मूँदे अनंत ने नयन धार वह भाँकी,
 शशि खिसक गया निश्चित हँसी हँस बाँकी ।
 द्विज चहक उठे, हो गया नया उजियाला,
 हाटक पट पहने दीख पड़ी गिरिमाला ।

—साकेत, अष्टम सर्ग

यहाँ मानव व प्रकृति की मनस्थिति में साम्य अंकित किया गया है । या यों कहिये कि मानव का प्रभाव प्रकृति पर पड़ा दिखाया गया है ।

पृष्ठभूमि की झलक के द्वारा प्रस्तुत गंभीर मानसिक वातावरण की पूर्ण स्वच्छता व उत्फुल्लता व्यंजित होती है जो जितनी इस युक्ति से सहजता से हो सकी है उतनी कवि के अपनी ओर के कथन के द्वारा नहीं हो पाती ।

हम दैनिक व्यवहार में भी कभी-कभी अपनी बात को प्रभाव-शालिता के लिए विशेष आयोजन व उपक्रम के साथ सजा-संवार कर कहते हैं और इस के लिए उचित पृष्ठभूमि या वातावरण भी तैयार करते हैं । अपने भावों को या वर्णनों को प्रभावशाली रूप में अंकित करने के लिए उक्त विधाओं का प्रयोग भी उसी स्वाभाविक मनो-वृत्ति का प्रतिफलन है । आयोजन, परिवेष्टन या सजावट भी जीवन के लिए कितनी व्यावहारिक वस्तुएँ हैं, यह सब का अनुभव है ।

(६) अलंकार

काव्य में अलंकार-रूप में प्रकृति का पुष्कल प्रयोग होता है । प्रबन्ध काव्यों में मानव-सौन्दर्य वर्णन व मुक्तक गीतों या कविताओं में सूक्ष्म भावों के मूर्त प्रत्यक्षीकरण के लिए प्रकृति के पदार्थ उपमानों के लिए अलंकार रूप में गृहीत होते हैं । कभी कभी प्रकृति अलंकार न रह कर स्वयं ही अलंकार्य भी हो जाती है; अर्थात् प्रकृति के पदार्थों के वर्णन के लिए प्रकृति से ही उपमान लिए जाते हैं । जैसे—

चन्द्रातप सा मृदु सूर्यातप,

तारों से हिम-बिंदु रहे कँप ! —पंत (उत्तरा)

इसमें उपमेय व उपमान दोनों प्रकृति के क्षेत्र के ही पदार्थ हैं । उपमेय व उपमान के बीच सादृश्य का कितना सुन्दर विधान हुआ है ।

पन्नामणि-सी सघन हरित नव सरसों की हरियाली—

विस्तृत वृक्षों पर लहराती नेत्र-सुखद छबिशाली—

जिसमें खिलते अलंकार से पीत कुसुम अति प्यारे,

अम्बर से मानों धरती पर बरसे लाखों तारे । ('प्रथम किरण')

प्रथम दो पंक्तियों में आई उपमा में उपमेय सरसों की हरियाली के लिए उपमान पन्ना मणि प्रकृति के क्षेत्र से ही चुनी हुई वस्तु है। इसी प्रकार अंतिम पंक्तियों में की गई उत्प्रेक्षा में पीत कुसुम (उपमेय) व तारे (उपमान) दोनों प्रकृति के क्षेत्र के पदार्थ हैं। इस में यह बात निहित है कि कवि मानव प्रकृति के क्षेत्र से बढ़ कर सुन्दरता का कोई और क्षेत्र देख ही नहीं पाता; मानव-जगत् में मानो उपयुक्त उपमान मिल ही नहीं सकते। किन्तु आलंकारिक मानते थोड़े ही हैं। उन्होंने 'प्रतीप' और 'व्यतिरेक' आलंकारों की रचना करके मानव-सौन्दर्य का बढ़ा-चढ़ा वर्णन करने के लिए प्रकृति को घटा ही तो दिया ! स्वयं तुलसी ने सीता के मुख के आगे कमल को कंटकित कह कर खारिज कर दिया है। अस्तु।

कवि को प्रकृति से असीम प्रेम हो या केशव की तरह वह 'अनदेखेई' अच्छी लगती हो, आलंकार-विधान के लिए प्रकृति की शरण लेने के सिवा और कोई चारा नहीं। जो मानव-जगत् की चारदीवारी में ही बन्द रहते हैं, उन की भी बड़ी लाचारी है। कवि खानापुरी के लिए प्रकृति की ओर भाँक रहा है या पुष्ट आलंकार-विधान की प्रेरणा प्रकृति के विशाल स्वच्छन्द क्षेत्र से प्राप्त कर रहा है, इसकी पहचान बहुत कठिन नहीं है; वर्णन-प्रणाली से ही यह साफ भल्लक जाता है। हाँ यह माना कि आलंकार-विधान में प्रकृति के प्रति वैसा छल-छलाता प्रेम पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं हो सकता जैसा आलम्बन रूप में किये गये प्रकृति वर्णन में, किन्तु फिर भी कवि का अनुराग-जन्य सूक्ष्म निरीक्षण पर्याप्त रूप से सूचित हो जाता है। वस्तुतः इस क्षेत्र में भी कवि को अपना प्रेम प्रदर्शित करने का पर्याप्त अवसर मिलता है। यदि कोई कवि चिर-परिचित गढ़े-गढ़ाये उपमानों का बटखरों की तरह ही प्रयोग करने में सन्तुष्ट दिखाई पड़ता है तो काव्य नीरस ही रहेगा किन्तु यदि निजी निरीक्षण के बल पर नये नये उपमानों का

विधान करेगा तो लोक-हृदय उसे श्रेय देगा । यहां एक बात बड़ी कठिनाई की पैदा होती है । चांद, कमल, भ्रमर आदि उपमान कितने ही पुराने हों पर इनका स्थान काव्य में सदा सुरक्षित रहेगा । इसमें कोई आपत्ति भी नहीं । मुख्य कठिनाई यह है कि वास्तविक कवि तो चन्द्रमा से उपमा देते समय चन्द्रमा की भावना में पूरी तरह डूब कर ऐसा करेगा किन्तु अधिकांश कवि या छन्दकार परम्परागत प्रयोग की परिचिति से लाभ उठा कर यों ही उसका प्रयोग कर देंगे । परिणाम यह होता है कि पाठक भी इस बहु-प्रचलित उपमान की भावना में पूरी तरह रमने का धैर्य नहीं रखेंगे । परम्परागत उपमानों के प्रयोग में बस यही एक अड़चन की बात है । यों चन्द्रमा को उपमान रूप में ग्रहण करने में प्रारम्भिक कवि को जितना उल्लास मिला था उतना ही उल्लास आज भी कवि या पाठक को मिल सकता है, मिलता भी है ।

हर्ष की बात है कि आधुनिक हिन्दी-कविता में कवियों ने अपनी प्रतिभा, मुक्त कल्पना व निरीक्षण-शक्ति के बल पर, उपमानों के क्षेत्र को पर्याप्त विस्तृत किया है । उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के प्रयोग में उनकी व्यापक प्रकृति-दृष्टि का पता चलता है । उपमा के कुछ उदाहरण लीजिए—

चांदनी-धुला अञ्जन सा, विद्युत् मुसकान बिछाता,

सुरभित समीर पंखों से उड़ जो नभ में घिर आता,

वह बारिद तुम आना बन !

—महादेवी वर्मा (यामा)

शत शत मधु के शत शत सपनों की पुलकित परछाईं सी ।

मलय-विचुंबित तुम ऊषा की अनुरंजित अरुणाईं सी ॥

—भगवतीचरण वर्मा (प्रेम संगीत)

मकरन्द मेघ-माला सी वह स्मृति मदमाती आती ।

—‘प्रसाद’ (आँसू)

ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली ।

—‘प्रसाद’ (कामायनी)

मेमनों से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर ।

—‘पंत’ (पल्लव)

प्रेयसि की मुख-छवि मेघ मुक्त
शशि रेखा सी उगती मन में !

×

×

×

ज्योत्स्ना में भंभा से कंपित
हल्की फुहार-सी पड़ती भर ।

—पंत (उत्तरा)

निर्झर सा भिरभिर करता माधवी-कुंज छाया में
चेतना बढी जाती थी हो मंत्र-मुग्ध माया में !

—‘प्रसाद’ (आँसू)

मृत्यु, अग्नि चिर निद्रे ! तेरा अंक हिमानी-सा शीतल,
तू अनंत में लहर बनाती काल-जलधि की सी हलचल !

—प्रसाद (कामायनी)

वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
दलित भारत की विधवा है !

—‘निराला’ (परिमल)

मैं विकल : जैसे कमल-दल पर निशीथ तुषार,
मैं अशान्त : विभावरी में ज्यों जलधि व्यापार,
मैं सकाम : प्रभात में ज्यों स्वप्न का शृंगार,
मैं उदास निराश : ज्यों सन्ध्या समय कान्ता ।

—‘शेष’ (सुवेला)

रेखांकित स्थलों में कवियों का अच्छा प्रकृति-निरीक्षण मिलता है ।
सम्यक् पक्ष तो कहीं कहीं संक्षिप्त ही है । उपमान पक्ष का विस्तार
प्रकृति के एक पूरे व्यापार-के प्रयोग की शक्ति व्यक्त करता है ।

प्रकृति का ऐसा ही निकट निरीक्षण रूपकों में भी मिलता है । दो चार उदाहरण लीजिए—

प्रिय, सांध्य गगन, मेरा जीवन !

—महादेवी वर्मा

‘सांध्य गगन’ इन दो शब्दों में मेघ के विविध रंग, मौन, निस्तब्धता व निशागम की कैसी मार्मिक ध्वनि उत्पन्न की गई है । इतने से ही कवि के निरीक्षण का भी आश्वासन मिल जाता है !

मुख-कमल समीप सजे थे, दो किसलय से पुरश्न के,
जल-बिन्दु सदृश ठहरे कब उन कानों में दुख किनके ?

—‘प्रसाद’ (आँसू)

(‘दो किसलय से’ और ‘जल-बिन्दु सदृश’ में उपमा का सौन्दर्य भी देखिए ।)

दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज, सरल उपकृति का सजल मानस प्रिये !
क्षीण करुणालोक का भी लोक को, है बृहत् प्रतिबिम्ब दिखलाता सदा !

—पंत (ग्रंथि)

पवन-प्रेरित जल-प्रसार पर दीपक के प्रकाश का फैल कर बड़ा दिखाई पड़ना क्या ही सूक्ष्म व रमणीय निरीक्षण है ।

खैच ऐं-चीला भ्रू-सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारम्बार—
छिला हरियाली का सुदुकूल,
भुला भरनों का भलमल हार;
जलद-पट से दिखला मुख-चन्द्र,
पलक पल पल चपला के मार;
भग्न उर पर भूधर सा हाथ !
सुमुखि, धर देती है साकार !

—पंत (पल्लव)

कितनी रमणीय कल्पना है ! प्रिया का ध्यान मन पर पहाड़ सा रहता है । मुहावरे की बंदिश भी क्या खूब निभी है । पर्वत की सारी

विभूतियों का भी सांग रूपक में कैसा अवस्थान हुआ है ! प्रेयसी के सौन्दर्य के वर्णन में कवि ने भूधर का भरा पूरा वर्णन कर दिया है ।

उत्प्रेक्षा का भी एक उदाहरण लीजिए—

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ।

—‘प्रसाद’ (कामायनी)

संदेह अलंकार (उत्प्रेक्षा भी मानी जा सकती है) के इस प्रयोग में प्रकृति के एक सुन्दर रूप की झाँकी देखिए—

या कि, नव इंद्र नील लघु शृंग फोड़ कर धक्क रही हो कांत—
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रांत ।

—‘प्रसाद’ (कामायनी)

इस प्रकार हम देखते हैं कि अप्रस्तुत-विधान में कवियों ने घिसी पिटी परम्पराओं से हट कर मुक्त कल्पना का परिचय दिया है ।

(७) प्रतीक

विशेष धर्म या गुण के प्रकाशक प्रकृति के कुछ पदार्थ, जो सामान्यतः सबके हृदय में एक सी भावना जगाते हैं, कविता में ‘प्रतीक’ कहलाते हैं ।* प्रतीक भारत का बहुत प्राचीन शब्द है ।† निर्गुण निराकार ब्रह्म की सूक्ष्म भावना को हृदयंगम कराने के लिए जिन गोचर अथवा मूर्तरूपों का सहारा लिया जाता है वे ‘प्रतीक’ कहलाते हैं । स्वामी विवेकानंद ने प्रतीक का अर्थ किया है—‘वे वस्तुएँ जो

*“The term given to a visible object representing to the mind the semblance of something which is not shown but realized with it. Ship, a symbol represented the Church, in which the faithful are carried over the sea of life. Peacock stands for immortality, the phoenix for the resurrection; the dragon or the Serpent for Satan”.

—Encyclopaedia Britannica (1947), page 700.

† ‘स य नाम ब्रह्मेत्युपास्ते’ इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः । —ब्रह्मसूत्र ।

किसी न किसी अंश तक ब्रह्म के स्थान में उपास्य कही जा सकती हैं।* श्री रामानुजाचार्य का कथन है—‘जो वस्तु ब्रह्म नहीं है उसे ब्रह्म मान कर उसमें भक्तिपूर्वक मन को लगा देना।’ अभिप्राय यह कि प्रतीक सूक्ष्म के स्थान पर प्रयुक्त स्थूल पदार्थ होते हैं। यही ‘प्रतीक’ शब्द की व्यापक भावना है। ईसाई मत में भी प्रतीकों का प्रभावशाली प्रयोग होता था। उपासना क्षेत्र का यह शब्द साहित्य क्षेत्र में भी स्थूल के द्वारा सूक्ष्म की भावना कराने के प्रसंग में प्रयुक्त किया जाने लगा। सन् १८८५ में फ्रांस में प्रतीकों के माध्यम से ही अपनी बात कहने वाला एक कवि-सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। X

यों तो प्रकृति के सभी पदार्थ किसी न किसी धर्म या गुण के प्रतीक ठहराये जा सकते हैं किन्तु लोक-हृदय ने बिना किसी शास्त्रीय विधान के कुछ विशिष्ट पदार्थों में सबसे अधिक प्रतीकत्व स्थापित कर लिया है। यह प्रतीकत्व एक प्रकार से उनका विशेषाधिकार हो गया है। कमल, चन्द्रमा, मीन, मेघ, पुरुष, कोकिल, उषा, लहर, चकवा-चकवी आदि ऐसे ही कुछ प्रतीक हैं जो इनके विशिष्ट गुणों से सम्बद्ध या समानान्तर सूक्ष्म भावना की अभिव्यक्ति के लिए उनके स्थान पर काम में लाये जाते हैं। युग-युगान्तरों के निरन्तर प्रयोग से इन पदार्थों में हमारे हृदय में उन्हीं भावनाओं को जगाने की गहरी शक्ति संचित हो गई है। प्रतीक रूप में यदि ‘उषा’ शब्द का व्यवहार होता है तो उसका अर्थ सूर्योदय के पूर्व की ललाई न हो कर उल्लास व उत्फुल्लता ही होगा जो उषा का सहधर्मी गुण है। यथा—

उषा का था उर में आवास, मुकुल का मुख में मृदुल विकास;

—पंत

प्रतीक रूप में प्रयुक्त ‘लहर’ शब्द केवल जल के विकार का ही

* शांकर भाष्य, ४।१।५। (स्वामी विवेकानंद के ‘भक्तियोग’ से उद्धृत)

X विशेष देखिए—Encyclopaedia Britannica (1947) page 701.

वाचक न हो कर मन का तरल उल्लास, स-गीत मुक्ति, निश्चिन्ता व सरसता का ही बोधक होता है । उदाहरणार्थ—

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर !

—‘प्रसाद’

‘पंत जी ने ‘उत्तरा’ में प्रकृति के अनेक पदार्थों में प्रतीकत्व का बड़ा घना विधान किया है । प्रकृति के साधारण पदार्थ भी भावाभिव्यक्ति के सफल माध्यम बन सके हैं । मिट्टी, मुकुल, स्वप्न, शिखर, पुलिन, अम्बर, ज्वाल, शोणित, तम, भू, ज्वार, हरियाली, छाया, जलज, विद्युत्, क्रमशः पार्थिवता, विकास, स्वर्णिम आदर्श, उन्नति, विषमतासूचक कृत्रिम सीमाएँ, ईश्वरीयता, क्रांति, स्वस्थ गतिशील चेतना, जड़ता (तामसिकता), यथार्थ, उल्लास, कुशलक्षेम अथवा लोक-मंगल, अवास्तविकता, सुख-समृद्धि व आध्यात्मिक भूषणों के प्रतीक बनकर आये हैं । यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भावोद्वेग के कारण जब कवि साधारण अभिधा से ही काम नहीं चला सकता तभी वह चिर परिचित प्रतीकों का अथवा नये गढ़े समर्थ प्रतीकों का सहारा लेता है । प्रतीकों का प्रयोग यह सूचित करता है कि कवि का भाव-प्रवाह बहुत गंभीर हो चला है जो साधारण लौकिक व्यवहार की भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता ।

प्रतीकों का सम्बन्ध एक ओर तो शब्द शक्तियों (अभिधा, लक्षणा व व्यंजना) में से लक्षणा के साथ स्थापित किया जा सकता है और दूसरी ओर अलंकार विधान के लिए उपमान पक्ष से । लक्षणा में शब्द के वाच्यार्थ का ग्रहण नहीं होता । प्रतीक विधान में भी यही होता है । प्रबन्ध काव्यों में वस्तु-वर्णन या रूप-वर्णन में अलंकार के लिए जो उपमान काम में लाये जाते हैं उनमें से कई उपमान प्रसिद्ध प्रतीक होते हैं । सभी उपमान प्रतीक नहीं होते* । हाँ सभी प्रतीक उपमान हो

* विशेष देखिए—पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत ‘काव्य में रहस्यवाद’ (सं० १९८६)

पृष्ठ ८५-८६ तथा श्री लक्ष्मीनारायण ‘सुधांशु’ का काव्य में अभिव्यञ्जनावेद’ ५ वीं अध्याय ।

सकते हैं। उपमा के आधार होते हैं—सादृश्य, साधर्म्य, शब्द-साम्य और प्रभाव-साम्य। साधर्म्य व प्रभाव-साम्य में प्रतीकोपयोगी उपमानों का सुन्दर प्रयोग हो सकता है।

कभी कभी पूरी की पूरी रचना प्रतीकों में ही की जाती है। 'प्रसाद' की 'उठ उठ री, लघु-लघु लोल लहर !' इसी वर्ग की रचना है। कवि 'नीरज' के 'प्राण गीत' में 'जीवन जल !' नाम की रचना भी इसका एक सुन्दर उदाहरण है। यह पूरी रचना प्रतीक है। इसमें आकाश उच्च वर्ग का, पानी जीवन का और धरती निम्न वर्ग की प्रतीक है। इसमें प्रकृति के अलम्बन गत चित्रण का भी आभास मिल जाता है। प्रगतिवादी विचार धारा को लिए हुए यह रचना एक सफल व सुन्दर रचना है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

लो वह आई पुरवाई, छाई वह बहार,
वह चमकी बिजली, वह मोरों ने किया शोर,
वे लगे भूमने खेत, थिरकने लगे बाग,
वह कली जी गई, गली हो गई वह बिभोर,
वह गाने लगी आम की डाल डाल भूला,
वह लाल लजा हो गई, कुमारी कोयलिया,
वह नची बैल की घण्टी, वह छमकी पायल,
वह मस्त बजाने लगा मुरलिया साँवलिया।
बौछार पड़ी वह, भीग गई वह नई बहू,
वह बादल गरजा, वह साजन ने गही बाँह,
वे जुगनू चमके, किलक उठे वे ग्वाल बाल,
वह कजली बोली, वह बिरहा कर उठा 'आह' !

(८) तथ्य-प्रतिपादन व उपदेश

कविजन प्राकृतिक वस्तु-व्यापारों से नैतिक आदर्श या तथ्यों का प्रतिपादन भी करते हैं। प्रकृति मानों गुरु है और वह हमें सदुपदेश करती है। अंग्रेजी में शेक्सपियर व वर्ड्सवर्थ आदि कवियों में भी

प्रकृति का इस रूप में उपयोग मिलता है। हिन्दी के रीतिकालीन नीति-वादी कवि गिरधर, रहीम आदि—इस दिशा में पर्याप्त लिख गये हैं। वर्तमान काल में भी यह प्रवृत्ति कहीं कहीं दिखाई पड़ती है। दो तीन उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।
बहुत तारे थे, अँधेरा कब मिटा,
सूर्य का आना सुना जब, तब मिटा।

—‘साकेत’, प्रथम सर्ग

यहाँ सूर्योदय होने पर अँधेरा मिट जाने के प्राकृतिक व्यापार के द्वारा एक सामाजिक तथ्य का निरूपण है।

कहती है यह प्रकृति सदा तुम प्रेम करो केवल अपने पर।

×

×

×

सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार द्रव्य बल।

मूल हेतु रवि के गौरव का, है प्रकाश ही न कि उच्च स्थल ॥

—‘स्वप्न’, पृष्ठ ३६

ऊपर के उदाहरण में प्रकृति के द्वारा उपदेश स्पष्ट है। रवि के गौरव का हेतु प्रकाश ही है, उच्चता नहीं; इस बात के द्वारा मनुष्य में महिमा सेवा में ही होने का तथ्य व्यंजित हुआ है।

‘दो मित्र’ नामक कविता (युगवाणी) में पंतजी ने प्रगाढ़ मित्रता निर्वाह की सूक्ष्म ध्वनि उत्पन्न करते हुए चिलबिल के पेड़ों का सुन्दर चित्र अंकित किया है—

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों से हैं खड़े,
झौन, मनोहर !

दोनों पादप,
सह वर्षातप,
हुए साथ ही बड़े,
दीर्घ सुहृदतर ।

‘नौका विहार’ (गुंजन) पंतजी की सुप्रसिद्ध रचनाओं में से है । चांदनी रात के समय के नौका-विहार का वर्णन करने के पश्चात् कवि उसमें एक दार्शनिक तथ्य की स्थापना करता है—

ज्यों ज्यों लगती है नाव पार,
उर में आलोकित शत विचार ।

इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम ।

×

×

×

हे जग जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार !

मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व दान ।

स्पष्ट है कि इस दार्शनिक तथ्य का ग्रहण कवि ने प्राकृतिक व्यापार से किया है । नौका-विहार की भावना में रम लेने के बाद इस तथ्य का ग्रहण करना सुगम हो जाता है ।

समर्पण की भावना की उच्चता कवि ने निर्भर के द्वारा किन्नरी सुन्दरता से व्यक्त की है—

किन्तु समर्पण में भी सुख है, देखो, झिलमिल धीरे धीरे,
शरच्चन्द्र की श्वेत रश्मियाँ पिरो रही है मुझमें हीरे !

पं० उदयशंकर भट्ट (मानसौ)

काव्य में प्रकृति के मुख्य ये ही रूप प्रयुक्त होते हैं । इसमें से सैंकड़ों रंगतों की अभिव्यक्तियाँ उपजाई जा सकती हैं । प्रकृति निरूपण का स्थूल ढाँचा अलबत यही रहेगा । प्रकृति के द्वारा कविजन मानव

सभ्यता के मार्मिक स्वरूपों का भी उद्घाटन करते हैं। इसका कुछ विस्तृत विवेचन द्वितीय प्रकरण में हो ही चुका है।

मध्यकाल में तुलसी प्रकृति के द्वारा नैतिक तथ्यों की व्यंजना करने के लिए प्रसिद्ध ही हैं। यथा—

बुंद अघात सहे गिरि कैसे । खल के बचन संत सह जैसे ॥

छुद्र नदी जल भरी तुराई । जिमि थोड़े धनु खलु इतराई ॥

उदित अगस्त पंथ जल सोखा । जिमि लोभहि सोखै संतोषा ॥

आधुनिक मनोवृत्ति वस्तु-व्यापार का चित्रण करके उसे वहीं छोड़ देने की है जिससे कि काव्य की ध्वनि पाठक स्वयं अपनी ग्राहक कल्पना के बल से ग्रहण करे। अपनी ओर से निष्कर्ष आदि निकाल कर रखने के बजाय यदि कवि स्वयं पाठक की कल्पना को सक्रिय हो कर रसानुभव या तथ्य-ग्रहण करने का अवसर दे तो अधिक उत्तम है।

षष्ठ प्रकरण

उपसंहार

पिछले पृष्ठों में हमने प्रकृति-चित्रण के सिद्धान्त और कविता में प्रकृति के प्रयोग की विविध विधाओं के विवेचन का एक विनम्र प्रयत्न किया है। उससे प्रकृति के महत्त्व और उसके काव्यगत विस्तार का भी कुछ अनुमान हुआ होगा।

मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। कवि या कलाकार में यह सौन्दर्योपासना सब से प्रबल व व्यापक रूप में दिखाई पड़ती है। ब्रह्म की तीन विभूतियों—सत्य, शिव, और सौन्दर्य : कवि की सुन्दर—में से कवि 'सुन्दर' को लेकर अपनी साधना का माध्यम साधना में निरत होता है और सच्चिदानन्द-धन ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप का साक्षात्कार करता है और कराता है। इस स्वरूप का साक्षात्कार करना ही सभी साधनाओं का एकमात्र लक्ष्य है। ऋषियों का अनुभव है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात् । आनन्दादयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।

आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, ६

अर्थात्, आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं, और आनन्द में ही समा जाते हैं।

ऋषियों का और भी अनुभव है कि यदि आकाश आनन्द और प्रेम से परिपूर्ण न होता तो कौन प्राणी जीवित रह पाता ?

इस आनन्द का अनुभव विभिन्न पद्धतियों से हो सकता है। भावयोगी कवि या कलाकार सौन्दर्य के माध्यम से उसका अनुभव करके

आत्म-प्रतीति करते हैं। पर यह सौन्दर्य बड़ा व्यापक है। उसका एक छोर तो पदार्थों का बाह्य रूपाकार या चाकचिक्य है और दूसरा छोर सूक्ष्म प्रकाश-चेतना व धूमिल आदर्शों में विलुप्त है। सौन्दर्य की इसी महत् भावना को व्यक्त करते हुए कवि कहते हैं —

उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब कहते हैं। (‘प्रसाद’)

अकेली सुन्दरता कल्याणि ! सकल ऐश्वर्यों की संधान ! (‘प्रेत’)

यह सौन्दर्य चार प्रकार का है—शारीरिक, वस्तुगत, कलागत और प्राकृतिक। सब प्रकार के सौन्दर्य का मूलस्रोत प्रकृति है जो अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त प्रसार है। इसीलिए प्रकृति के प्रकृति सौन्दर्य की सौन्दर्य में कुछ विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य विशेषताएँ प्रकार के सौन्दर्य से पृथक् करती हैं। प्रकृति के सौन्दर्य को सभी देशों के लोग एक साथ ही सुन्दर कहेंगे। इसकी प्रशस्ति विश्वव्यापिनी है।* मानव सौन्दर्य के आदर्शों में भेद हो सकते हैं। प्रकृति में हम अपनी आत्मा की छाया का अनुभव करते हैं। विशालता या उदात्तता (Sublimity), जो ईश्वरीयता की भावना का संकेत करती है, हमें प्रकृति में ही मिलती है। प्रकृति का सौन्दर्य ही पूर्ण निष्काम व आनन्ददायक होता है। प्रकृति-सौन्दर्य के दर्शन से हम अपनी आत्मा को उन्नत, पुष्ट, व प्रोज्ज्वल होते हुए अनुभव करते हैं। प्रकृति का सौन्दर्य प्रयोजनातीत है; उषा, नक्षत्र व बिहगों के सौन्दर्य का व्यावहारिक उपयोग न होते हुए भी वे हमें नित्य आकर्षक हैं। प्रकृति हममें आत्म-स्वातन्त्र्य की बलिष्ठ, स्वस्थ व दिव्य भावना भरती है। अंग्रेज कवि शेली ने इसका अनुभव किया है। प्रकृति का सौन्दर्य नित्य नवीन व ताजा है। सहस्रों वर्ष पूर्व उषा, किष्ण, मेघ व इन्द्रधनुष में जो नवीनता थी वह आज भी इनमें

* Plato : Symposium (1950 : Penguin Classics Series, Translated by W. Hamilton); page 93-94.

विद्यमान है। उनको देख कर हम कभी ऊबते नहीं। युद्ध आदि विभीषिकाग्रों के कारण इस सौन्दर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस सौन्दर्य में ईश्वर का प्रकाश, आनन्द, चेतना आदि के नद उमड़ते रहते हैं। अन्य प्रकार के सौन्दर्य में, विचार करने पर, ये विशेषताएँ पूरी तरह देखने को नहीं मिलतीं। इसीलिए यह सौन्दर्य सब का मूल आधार है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रकृति की ओर हमारा पहला चरण स्थूल सुखोपभोग या ऐन्द्रिक तृप्ति की भावना से ही उठता है। हम रंग-बिरंगे पदार्थ देखना चाहते हैं, फूलों की प्रकृति का आध्यात्मिक मीठी महक से घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करना महस्व चाहते हैं, रंगीन व स्वच्छन्द विचरते विहगों की मादक स्वर-लहरियों से कानों में सुधा घोलना चाहते हैं, मीठे रसीले फलों व मेवों का स्वाद लेना चाहते हैं व ग्रीष्म में घनी काली स्निग्ध छाया के व शिशिर में नींद-भरी तरुण धूप-जिनमें तितलियाँ लहलहाती हुई डोलती हैं—के सुखद स्पर्श से रोमांचित होना चाहते हैं। किन्तु प्रकृति के आराधक की गति यही समाप्त नहीं हो जाती। शनैः शनैः वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर उठता है। प्रश्न होने लगते हैं—इस महान् सौख्य का उत्पादक कौन है? क्या है? कहाँ है? यह लीला विलास किसका है? किसके लिए है? प्रकृति का प्रेमी कवि या साधक इस दर्शन की भूमिका में थोड़ी देर का पड़ाव डालकर आगे प्रतीकों की भूमि में पहुँच जाता है। अब इस सत्ता के प्रति इतना विश्वास जम जाता है कि कण-कण में प्रकाश व मधु का अनुभव होने लगता है। वर्ड्सवर्थ व पंत का काव्य-विकास बहुत कुछ इसी पद्धति पर हुआ जान पड़ता है। प्रतीकों की भाषा में बोलने वाला कवि 'अगोरणी यान्महतो महीयान' की भावना से भर उठता है। इस सूक्ष्म में आकर स्थूल की यात्रा समाप्त होती है।

श्रीकृष्ण के भक्त भी अपने आराध्य के गोलोक की कल्पना भी प्रकृति के ही बल पर कर सके। जहाँ श्रीकृष्ण अपनी ल्लादिनी शक्ति राधा के साथ विहार करते हैं, वहाँ नित्य यमुना है, नित्य कदम्ब-कानन, वृन्दावन, रास व नित्य गो-गोपियाँ हैं। वेद में ब्रह्म का गौरव-गान प्रकृति के व्याज से ही हुआ है। गीता में भगवान् ने सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, पवन, समुद्र, सुमेरु, हिमालय, पीपलवृक्ष, गंगा (श्रीमद्भगवद्-गीता, ११। २१-३१) आदि सबमें अपना ही अंश व तेज बताया है। वेदान्त में समस्त व्यक्त प्रसार को शबल (चैतन्य प्रकाश से परिपूर्ण) ब्रह्म या सगुण ईश्वर के रूप में बताया है। यों प्रकृति जड़ है किन्तु आत्मा के संयोग से चेतन हो जाती है और उसमें ईश्वर का मधुर अनुभव होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रकृति अनन्त सौन्दर्य व अनन्त चैतन्य से परिपूर्ण है। कवि अपने अन्तःकरण व सहृदय समाज के लिए मानसिक सुख की रसानुभूति के रूप में व्यवस्था करता है। अतः उसे इसलक्ष्य की पूर्ति के लिए कवि कर्म व काव्य प्रकृति की ओर जाना इष्ट है क्योंकि आनन्द का सर्वोच्च आदर्श प्रकृति की ओर जाना इष्ट है क्योंकि आनन्द के मूल तत्त्व वहीं प्राप्य हैं। वह प्रकृति से कट कर चल ही नहीं सकता। यदि कवि का यह दावा ठीक है कि वह मानव-हृदय के लिए सौख्य व मुक्ति का वरदान लाता है तो उसे अपने काव्य में उन तत्त्वों का अधिकाधिक समावेश करना होगा जिनसे प्रकृति परिपूर्ण है। केवल 'प्रकृति प्रकृति के लिए' का सिद्धान्त भी अधिक नहीं चल सकता। प्रकृति को अन्ततः मानव के लिए ही उपयोगी बनाना है। मुख्य है मानव ही। प्रकृति भी मानव के लिए ही है, उसका अस्तित्व केवल अपने ही लिए नहीं। इसलिए कवि को अपने समाज के सौख्य व आनन्द की व्यवस्था के लिए प्रकृति की ओर जाना होगा और उसमें निमज्जित हो कर उससे आध्यात्मिक

संदेश, सुभाव, संकेत व दिव्य प्रेरणाएं ग्रहण करनी होंगी। इस ग्रहण पर मानव हृदय का विधान आश्रित होगा। किन्तु यह बात नहीं है कि रीती आँखों से प्रकृति को देखने पर ही ये सब कुछ मिल जायेंगे। नहीं। उसके लिए पुरुषार्थपिक्षी व्यक्तिगत साधना की आवश्यकता होगी जिसका अर्थ है—सुन्दर चिन्तन व सुन्दर जीवन-प्रणाली। प्रकृति की समस्त विभूति और रहस्य का अधिकारी वही होगा जो जीवन के आमूल परिष्कार के लिए कृत-संकल्प होगा। कवि कहलाना इतना सरल नहीं। यह श्रेय मानव-जीवन का एक महान् श्रेय है जिसे समाज कवि को उसके भाव, उसके चिन्तन व उसकी जीवन प्रणाली, तीनों के मिश्रित प्रभाव से श्रद्धा-नत होकर प्रदान करता है।

परम्परा से भाव और कल्पना का जो अपार वैभव हमें विरासत में मिला है, उसे इधर का उधर और उधर का इधर सुघड़ता से सजा सँवार कर रख देना ही अलम् नहीं है। कवि कहलाने के लिए भावों का अनुभव करने की और अपनी निज की आँखों से अपने ढंग पर वस्तु व्यापारों को देखने की गहरी व मौलिक शक्ति की आवश्यकता है। यों सोचकर निराश होने की आवश्यकता नहीं कि अतीत और वर्तमान के महान् कवियों ने सब कुछ अनुभव कर लिया है, अब शेष कुछ नहीं रह गया। नहीं, हर एक कवि की अपनी अन्तर्दृष्टि (Vision) होती है जिसे उसकी आत्मा की विशिष्ट प्रक्रिया तैयार करती है। यही दृष्टि कवि को महान् कवियों की श्रेणी में बैठाती है। इन्हीं चिर-परिचित रूपों व व्यापारों में, इन्हीं के माध्यम से, कालिदास व शेक्सपियर, प्रसाद व रवीन्द्र अपनी बात कह सके हैं। और अब भी गुंजायश है। यही दृष्टि पदार्थों व व्यापारों का अपने विशिष्ट ढंग से ग्रहण कर उनमें कुछ उसी प्रकार की अन्विति बैठाती है जिस प्रकार 'कामायनी' में श्रद्धा की मुसकान से इच्छा, ज्ञान व क्रिया के बिन्दु मिल कर एकजीव हो जाते हैं। पूर्व और पच्छिम में काव्य और कवि के ऊँचे आदर्श रहे

हैं। पर जब तक पाश्चात्य पंडितों की धारणाएँ व्यक्त न हो जाएँ तब तक हमारे चिन्तकों के विचारों का मूल्य ही क्या ! देखिए, अंग्रेज़ कवि शेली कवियों के लिए क्या कहता है—

“They are the institutors of laws, and the founders of Civil Society, and the inventors of the arts of life, and the teachers, who draw into a certain propinquity with the beautiful and the true, that partial apprehension of the agencies of the invisible world which is called religion...”

“.....A poet, as he is the author of others of the highest wisdom, pleasure, virtue and glory, so ought personally to be the happiest, the best and the most illustrious of men.” ×

टॉल्स्टाय की कला या कविता-सम्बन्धी धारणा भी बहुत परिष्कृत है —

‘Art is not, as the metaphysicians say, the manifestation of some mysterious Idea of beauty or God ; it is not, as the aesthetic physiologists say, a game in which man lets off his excess of stored-up energy; it is not the expression of man’s emotions by external signs; it is not the production of pleasing objects; and, above all, it is not pleasure, but it is a means of union among men joining them together in the same feelings, and indispensable for the life and progress towards well-being of individual and of humanity.*

और मैथ्यू आर्नल्ड की कविता-सम्बन्धी कुछ गंभीर धारणाएँ व्यक्त करने के लोभ का संवरण करना भी कठिन है —

‘The future of poetry is immense, because in poetry, where it is worthy of its high destinies, our race, as time goes on, will find an ever surer and surer stay.’

× ‘Defence of Poetry’ by P. B. Shelley; quoted from George Saintsbury’s *Loci Critici* (1931), page 399.

* Tolstoy ‘What is Art ?’ (1950) translated by Aylmer Maude, page 123.

.....“We should conceive of poetry worthily, and more highly than it has been the custom to conceive of it. We should conceive of it as capable of higher uses, and called to higher destinies, than those which in general men have assigned to it hitherto. More and more mankind will discover that we have to turn to poetry to interpret life for us, to console us, to sustain us. Without poetry, our science will appear incomplete; and most of what now passes with us for religion and philosophy will be replaced by poetry”.

“The best poetry will be found to have a power of forming, sustaining, and delighting us, as nothing else can”.*

शायद अब आचार्य शुक्ल की बात भी प्रामाणिक व पते की जान पड़े —

“ जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं । इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं । ”

“ ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जायेगी त्यों त्यों कवियों के लिये यह काम (सभ्यता के कृत्रिम आवरण हटाना) बढ़ता जायगा । ... ज्यों ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जायेंगे त्यों त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जायगा । ” ×

भरत, मम्मट, विश्वनाथ व पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य का जो गंभीर उद्देश्य रखा है वह सर्वविदित है ।

* Matthew Arnold : Essays in Criticism, Second Series, (1935) Chap. I

× पं. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भा. १, ‘कविता क्या है’ नामक लेख ।

ऐसे गंभीर उद्देश्य वाले काव्य का प्रयोजन सिद्ध करने वाले कवियों को मौलिक सृजन-प्रेरणा, भावराशि, सौन्दर्य-स्वप्न, पुलक-कम्प, प्रकृति के विशाल क्षेत्र से ही लेने होंगे। हमारे आज के जीवन का संशोधन या प्रक्षालन करने की प्रेरणा भी वहीं से मिलेगी।

प्रकृति हमें बिना मूल्य कितना मधु और अमृत लुटा रही है। अनादि काल से हमें राशि-राशि जल मिल रहा है जिससे वसुन्धरा रस के मोती उगल रही है। काया का ताप शांत करने के लिए स्निग्ध-शीतल चांदनी का प्रलेप बरस रहा है। नदियाँ खेत-कुँजों को हरिया-लियाँ दे कर हमें तरोताजा रखने दौड़ रही हैं। मलय के शीतल भूकोरे काया को स्वर्गीय पुलकों से लादकर हमें विमुध बना जाते हैं। कितना प्रकाश, कितना रस, कितना उल्लास, और कितना आनन्द है ! किन्तु मनुष्य कितना दयनीय, कितना अशान्त, और कितना उद्विग्न ! ऐसे मानव-संसार को सुव्यवस्थित करने के लिए संसार के मन को मधुर भाव और स्वप्न की आवश्यकता है और यह कार्य केवल कवि और कलाकार ही कर सकेंगे। इसके लिए निःसंदेह कवियों और कलाकारों को अपने ही पुरुषार्थ का प्रदर्शन होगा। मानव-हृदय का नेतृत्व करने लिए पहले स्वयं में शक्ति और प्रकाश उत्पन्न करना होगा। जीवन को साधना रूप में स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।

शायद यहाँ कोई घोर यथार्थवादी हमसे नाराज हो जाय कि यथार्थ जगत् में ऐसे आनन्द व सौन्दर्य की बात करना हवाई है। हम विनय भाव से कहते हैं कि ठीक है, संसार में तो संघर्ष ही है। पर क्या संघर्ष को संघर्ष ही रहने दें। संघर्ष व कुरूपता से आनन्द व सौन्दर्य की ओर उठने में ही पुरुषार्थी मानव की शोभा है। संघर्ष अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। संघर्ष व्यवस्था के मार्ग की मंजिल है। संघर्ष-वादी मानव-जाति के इतिहास को क्रांतियों युद्धों व अन्य विग्रहों

से परिपूर्ण देख कर संघर्ष को ही जीवन का शाश्वत रूप ठहराते हैं। किन्तु यह उनकी भूल है। इन बातों का अस्तित्व ही प्रमाणित कर रहा है कि मानव जाति-इनके परे जो एक सुख या आनन्द है, जो स्थायी और निर्विकार है, उसी के लिए विशाल चेतना के युग-युगान्तर व्यापी पंख फड़फड़ा रही है। अतः कोरे संघर्ष में ही श्रद्धा रखना आनन्द-प्रिय व विवेकी मानव के लिए शोभनीय नहीं। किन्तु साथ ही संघर्ष से घबराना व जीवन से पलायन करना भी पुरुषार्थी मानव के लिए गौरवास्पद नहीं। जो प्राप्त करने योग्य अमर तत्त्व है, वह संघर्षों के बिना मिलने पर किस मोल का होगा ? उस प्राप्ति में सौन्दर्य ही क्या है ? अतः संघर्ष को स्वीकार करते हुए भी 'आनन्द' या 'रस' को ही जीवन का अंतिम उद्देश्य मानना सर्वथा न्याय्य है। गुप्त जी की यह उक्ति (साकेत, सर्ग १) कितनी सारगर्भित व सार्थक है—

इमो हेतु है जन्म टंकार का,
न टूटे कभी तार भंकार का।
यही टाँक टंकार सोती रहे,
मर्मा और भंकार होता रहे।

रवि बाबू ने भी लिखा है कि मधुर भंकार उत्पन्न करने वाले वीणा के तार लुहार की दूकान में ही बन्ते हैं जहाँ हथौड़े चलते रहते हैं।

बाह्य प्रकृति कितनी आनन्द पूर्ण है किन्तु हमारी अन्तः प्रकृति कितनी विकृत और क्लेशपूर्ण। इन दोनों में संतुलन व सामञ्जस्य

स्थापित करना कवियों का काम है। इसी में

अन्तः प्रकृति की विकृति मानव-समाज की नवीन संस्कृति का प्रभात

फूटेगा। मानव-हृदय में आज जो उद्दाम भोग-

वासना दमन, शोषण, स्वार्थ-साधन आदि तामसिक वृत्तियाँ उमड़ रही हैं उनका परिहार तभी होगा जब कवि प्रकृति से विश्व प्रेम व मानव-प्रेम की भावना आत्मसात् कर प्रेम, आनन्द व सुख-शांति के गान विश्व भर में फैलाने के लिए वायु की प्रत्येक लहर पर छोड़ देंगे। तभी दीन

के आँसू झरने बन्द होंगे, लुटी कुटियों में दीप जलेंगे, दुखिया माँ के स्तन नोच नोचकर विलखते शिशुओं को दूध मिलेगा और गरीब व अमीर का कृत्रिम अंतर मिटगा। आज जो विश्व-व्यापी तुमुल संघर्ष दिखाई पड़ रहा है व अणु-बम, परमाणुबम व उदजन बम के स्फोट की ध्वनियों से कान फटे जा रहे हैं, ये सब अनियन्त्रित अंतः-प्रकृति के ही दुष्परिणाम हैं। मानव-हृदय को स्वस्थ व जग-जीवन को व्यवस्थित करने का विशाल भार आज कवि के कंधे पर है।

पर इस महान् कर्तव्य के पालन में सरकार को भी पूरा पूरा सहयोग प्रदान करना होगा। वे व्यवस्थाएँ करनी होंगी जिनके परिणामस्वरूप सामान्य मानव को — विशेषतः दोनों के सम्बन्ध में कवि को — प्रकृति के निकटतम सम्पर्क में सरकार का पूरा आने का सुयोग प्राप्त हो। जो व्यक्ति जिस सहयोग कार्य में अधिक उपयोगी हो उससे वही कार्य लिए जाने में राष्ट्र की भलाई है। राष्ट्र के मन को सुन्दर बनाना कोई छोटा कार्य नहीं। सरकार का कर्तव्य है कि कवियों को भयंकर जीवन संघर्ष से कुछ मुक्ति दे कर इस दिशा में अग्रसर होने के लिए प्रेरित करे। कविजन प्रकृति की आत्मा में डूब कर—उसके नव-नव सौन्दर्य, नव-नव रहस्य, नव-नव क्रिया-कलापों में निमज्जित हो कर—मानव-मन को उद्वेग-रहित, स्वस्थ व प्रकाशवान् बनाने की भावनाओं को सशक्त व मधुर वाणी दे और सरकार रेडियो आदि के माध्यम से उसे घर घर प्रसारित करे। हमारे भाव-स्वप्न की जागृति व आत्म-परिमार्जन की दिशा में ये प्रयत्न बहुत दूर तक सहायक सिद्ध हो सकेंगे।

जनता में भी प्रकृति-प्रेम के जागरण व विकास के लिए कुछ सक्रिय कार्य-क्रम निर्धारित होने चाहिए। सरकार ऐसे विशेष आकर्षण व सुविधाएँ प्रदान करे जिनसे जनता—धनी, गरीब, व्यापारी,

श्रमजीवी, स्त्री-बालक आदि—परिवार व अन्य वर्गों में बँट बँटकर समय-समय पर पहाड़ों, जंगलों, नदियों की ओर वन-भोज या विहार आदि के लिए निकले, वहाँ पर्वतों की स्वच्छ जनता में प्रकृति-प्रेम निर्मल वायु को फेफड़ों में खींच कर प्राणवान् होने का अनुभव करे, क्षितिज तक फैले खेतों में, सरोवर की शीतलता से सने आते पवन के झोंकों में मरोरें ले ले कर लहराने वाले ढेर-ढेर फूलों की शोभा को नेत्रों में भर कर रोमांचित हो व दूध-से फेनिल भरनों में स्नान कर भव-ताप को शांत करे। यह कार्य हमारा सामाजिक कर्तव्य हो। यातायात विभाग भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहायक हो सकता है।

प्रकृति के निकटतम सम्पर्क में आने पर उत्पन्न हुई सौन्दर्य-चेतना हमारे दैनिक जीवन के स्तरों में अनेक रूपों में प्रतिफलित होगी। हमारा तन सुन्दर होगा, मन सुन्दर होगा व जीवन में सौन्दर्य की व्याप्ति जीवन सुन्दर होगा। हमारे घर, बाज़ार, ग्राम नगर, सब सुन्दर होंगे। पृथ्वी स्वर्ग का खंड हो सकती। आर्य ऋषि अपने नेत्रों व कानों से चारों ओर सुन्दर व श्रेयस्कर ही देखने व सुनने की भगवान् से कामना करते हैं—

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षमिर्यजत्राः ।

प्रभु ! हम कानों से कल्याणमय वचन सुनें और नेत्रों से कल्याण ही देखें।

परिशिष्ट

ग्रन्थानुक्रमणिका

उन ग्रन्थों की सूची जिनके अध्ययन से लेखक ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में लाभ उठाया और विषय-प्रतिपादन के लिए जिनमें से अनेक ग्रन्थों के उद्धरणों का उपयोग किया :—

१. संस्कृत

वैदिक साहित्य और दर्शन

ऋग्वेद

ईशोपनिषद्

केनोपनिषद्

मुण्डकोपनिषद्

ऐतरेयोपनिषद्

तैत्तिरीयोपनिषद्

श्वेताश्वतरोपनिषद्

श्रीमद्भगवद्गीता

काव्य

(प्राचीन काव्य)

वाल्मीकि	:	रामायण
कालिदास	:	रघुवंश मेघदूत कुमारसंभव
भवभूति	:	उत्तररामचरित
माघ	:	शिशुपाल वध
बाण	:	कादम्बरी
अमरक	:	अमरकशतक

२. हिन्दी

आलोचना

पं० रामचन्द्र शुक्ल	:	चिन्तामणि, भा० १-२ जायसी ग्रन्थावली की भूमिका काव्य में रहस्यवाद भ्रमरगीतसार (भूमिका)
पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र	:	पद्माकर पंचामृत की भूमिका
पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी	:	हिन्दी-साहित्य की भूमिका
पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा	:	गद्यकाव्यतरंगिणी (सम्पादित)
पं० केशवप्रसाद मिश्र	:	मेघदूत (हिन्दी-अनुवाद) की भूमिका
बा० गुलाबराय	:	प्रबन्ध प्रभाकर
डा० नगेन्द्र	:	सुमित्रानन्दन पंत विचार और विवेचन
डॉ० रघुवंश	:	प्रकृति और काव्य (हिन्दी)
डॉ० किरणकुमारी	:	हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण
श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव	:	हिन्दी-कविता में प्रकृति चित्रण
सेठ कन्हैयालाल पोद्दार	:	रसमंजरी (काव्यकल्पद्रुम)
श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'	:	काव्य में अभिव्यञ्जनावाद
श्री जयशंकर 'प्रसाद'	:	काव्य और कला तथा अन्य निबंध
श्री शिवदान सिंह	:	प्रगतिवाद
श्री हरिवंश शास्त्री	:	सौंदर्य-विज्ञान
विवेकानन्द	:	भक्तियोग

(प्राचीन काव्य)

कबीर	:	कबीरग्रन्थावली (बा० श्यामसुन्दर- दास द्वारा सम्पादित)
------	---	--

जायसी	:	पद्मावत
सूरदास	:	सूरसागर
तुलसी	:	रामचरितमानस गीतावली कवितावली विनयपत्रिका
बिहारी	:	बिहारी सतसई
केशव	:	रामचन्द्रिका
सेनापति	:	कवित्तरत्नाकर
पद्माकर	:	जगद्विनोद

(नवीन काव्य)

भारतेन्दु	:	भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १-२
प्रेमघन	:	प्रेमघन-सर्वस्व
राय देवीप्रसाद पूर्ण	:	पूर्ण संग्रह
'प्रसाद'	:	क मायनी लहर आँसू प्रेमपथिक
'पंत'	:	पल्लव ग्रन्थि गुंजन युगान्त युगवागी ग्राम्या

‘निराला’	:	परिमल आराधना
महादेवी वर्मा	:	यामा
रामकुमार वर्मा	:	रूपराशि
‘बच्चन’	:	मिलनयामिनी
भगवतीचरण वर्मा	:	मधुकला प्रेमसंगीत
उदयशंकर भट्ट	:	मानसी विजयपथ
पं० रामचन्द्र शुक्ल	:	बुद्धचरित
नरैन्द्र शर्मा	:	प्रभातफेरी प्रवासी के गीत अग्नि शस्य
‘अंचल’	:	अपराजिता वर्षान्त के बादल
‘दिनकर’	:	रेणुका
नेपाली	:	उमंग
बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’	:	अपलक
रामनरेश त्रिपाठी	:	स्वप्न पथिक
मंथिलीशरण गुप्त	:	साकेत यशोधरा पंचवटी
श्रीधर पाठक	:	काश्मीर सुखमा
हरिऔध	:	प्रियप्रवास
रत्नाकर	:	उद्धवशाक गंगावतरण

गुरुभक्तसिंह 'भवत'	:	नूरजहाँ वन-श्री
पतराम गौड़ 'विशद'	:	रेगिस्तान
परमेश्वर 'द्विरेफ'	:	धूल के फूल मरु के टीले
शंभूनाथ 'शेष'	:	सुवेला
नीरज	:	प्राण-गीत
रघुवीरशरण 'मित्र'	:	प्रतिध्वनि

पत्र-पत्रिकाएँ-अभिभाषण आदि

कल्पना (मासिक)	:	हैदराबाद से प्रकाशित
पं० चन्द्रबली पांडे	:	बम्बई हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अभिभाषण (३५ वाँ अधिवेशन)

३. अंग्रेजी

Literary Criticism

Plato	:	Symposium
Encyclopaedia Britannica		
R. A. Scott-James	:	The making of Literature
W. Basil Worsfold	:	Principles of Criticism Judgment in Literature
L. Abercrombie	:	An Introduction to the Principles of Criticism
George Saintsbury	:	Loci Critici
Tagore	:	Personality
Tolstoy	:	What is Art?
S. A. Brooke	:	Naturalism in English Poetry

Shelley	:	Defence of Poetry
Will Durant	:	The Mansions of Philosophy
Matthew Arnold	:	Essays in Criticism, Second Series.
W. H. Hudson	:	An Introduction to the Study of Literature
W. Wordsworth	:	Preface to the Lyrical Ballads.
S. K. De	:	Treatment of Love in Sanskrit Literature

Poetry text

Palgrave	:	Golden Treasury
Tagore	:	Gitanjali
Arnold	:	Poems of Wordsworth (Edited)
Keats	:	Endymion
Shakespeare	:	As You Like It

Journals

Journal of the Banaras Hindu University
(Silver Jubilee Number, 1942)
